कालु-कौमुदी

(पूर्वार्द्धम्)

रचयिता :

मुनिश्री चौथमल्लजी

प्रकाशक :

आदर्श साहित्य संघ

सरदारशहर (राजस्थान)

FOREWORD

This manual of Sanskrit grammer *Kalukaumudi* bears in its title the name of the eighth Acharya of the Terapanthi Sect of the Swetambara Jains Sri Sri Kaluramji Swami who was an eminent Sanskrit scholar trying incessantly, throughout his career as the Supreme Head of a religious order, to diffuse Sanskrit learning amongst his followers. The Kaumudi is an outcome of the Acharya's desire to bring Sanskrit grammar within the easy reach of the young learners Muni Sri Chauthmalji the learned disciple of the Acharya first prepared a bigger work on grammar called *Bhikshusabdanusasana* which deals in a full manner with the linguistic phenomena of diverse nature observable in the vast compass of Sanskrit language. The present work is a later composition of the same author. Though abridged and rendered free from the intricacies and abstruseness generally associated with grammatical discussions, the work is complete in itself in every way. The erudite author, proficient in different systems of Sanskrit grammar as he is, had applied his accumulated knowledge to the specific work of simplifying the grammatical rules of Sanskrit and acquitte himself of the task creditably.

Both of his treatises, the *Sabdanusasana* and the *Kaumudi* have been in circulation in their manuscript forms for several years, and the Jain students have been studying them with profit. The smaller work *Kaumudi* is now being published by the Adarsha Sahitya Sangha for the benefit of a wider community of students with the hope that this new treatise on Sanskrit grammar will contribute to the easy diffusion of the language.

There is a section of people among us who are for Sanskrit, but for Sanskrit without tears, without grammar. A course of Sanskrit study contemplated in this mentality, if adopted, would make the foundation very weak and ineffective. Thorough mastery of a language presupposes a knowledge of the essentials of its grammar. It may not be advisable for every student of to-day to prosecute the study of grammar as assiduously as it was done in ancient India described in the accounts of the Chinese pilgrim I-tsing, * but a good knowledge of the simple grammatical rules as set forth in the *Kalukaumudi* is indispensable for understanding the structure of Sanskrit language

The publication of a new Sanskrit grammar written in Sanskrit, and that too for meeting the practical requirements of the present generation of students, is certainly considered remarkable in these days, pointing, as it does, to the fact that Sanskrit is not "dead" like Latin and Greek. To draw an

*—I-tsing by J. Takakasu, P. 175

analogy between Sanskrit and the classical languages of Europe is hardly fair. There are still in this country about 10,000 Pathasalas catering for lakhs of students solely devoted to the study of Sanskrit in its different branches, and thousands of people in India are still able to speak Sanskrit fluently. It is Sanskrit which even now has often to serve as a national language, forming the only means of communication of idea between people living as far apart as Bengal is from Malabar or Bombay.

It must be gratifying to all lovers of Sanskrit that devoted workers of the Terapanthi Jain order under the august and inspiring guidance of their ninth Acharya Sri Sri Tulsiramji Swami are striving for the propagation of Sanskrit learning. They fully realise that the importance of Sanskrit does not lie only in its being the fountain-head of the regional languages of India, nor in its playing the role of a unifying force in the life of the nation throughout the ages, but also in its possessing a store-house of knowledge and wisdom which alone can restore the religious and spiritual values to a world thrown out of gear by hatred, strife and violence

Prof.—Durgamohan Bhattacharyya, M. A.
Kavya-Sankhya-Puranatirtha.
Lecturer, Calcutta University and Head of the
Department of Sanskrit.
Scotish Church College, Calcutta.

*प्रस्तावना

कालुकौमुदी नामक यह संस्कृत-व्याकरण-पुस्तक जैन श्वेताम्बर तेरापन्थके अष्टम आचार्य श्री श्री कालूरामजी स्वामी, जो स्वयं संस्कृतके प्रौढ़ विद्वान् थे तथा जिन्होंने अपने आचार्य-कालमें अपने अनुयायियोंमें संस्कृत-विद्याके प्रसारके लिए अनवरत यत्न किया, के नाम पर है। आचार्यश्रीकी यह इच्छा थी कि कोई ऐसी कृति हो, जिससे नव शिक्षार्थी संस्कृत-व्याकरण सरलतासे अधिगत कर सकें और यह कौमुदी उसी इच्छाका सुफल है।

आचार्य्य श्रीके विद्वान् शिष्य मुनिश्री चौथमल्लजीने पहले व्याकरण शास्त्र पर भिक्षुशब्दानुशासन नामक विशाल ग्रन्थका प्रणयन किया, जो संस्कृत-भाषाकी विशाल परिधिमें अवस्थित भाषा-विज्ञान-सम्बन्धी विविध पहलुओंका परिपूर्ण रूपमें विश्लेषण करता है। प्रस्तुत कृति (कौमुदी) उन्हींकी बादकी रचना है। यद्यपि यह एक संक्षिप्त प्रक्रिया-ग्रन्थ है और यह व्याकरण-सम्बन्धी विवेचनपूर्ण चर्चामें आम-तौरसे पाई जानेवाली गुत्थियों और उलझनोंसे उन्मुक्त है तथापि यह हर तरहसे अपने आपमें परिपूर्ण है। व्युत्पन्न लेखक, जो संस्कृत-

---

* मूल अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी अनुवाद।

व्याकरणकी विविध शाखाओंके पारगामी विद्वान् हैं, ने संस्कृत-व्याकरण के नियमोंको सरल बनानेके विलक्षण कार्यमें अपने अर्जित पाण्डित्यका उपयोग किया है और उनको इस कार्यमें गौरवपूर्ण सफलता मिली है।

उनकी दोनों कृतियां—**शब्दानुशासन** और **कौमुदी** कई वर्षोंसे हस्तलिखित रूपमें प्रचलित हैं और जैन-विद्यार्थी उनका अध्ययन कर लाभार्जन कर रहे हैं।

इस संक्षिप्त पुस्तक—**कालुकौमुदी** का आदर्श-साहित्य-संघके द्वारा विद्यार्थीवर्गके लाभके लिए इस आशाके साथ कि संस्कृत-व्याकरण-विषयक यह अभिनव कृति संस्कृत-भाषाके सरलतापूर्ण प्रसारमें योग दे सकेगी, प्रकाशन किया जा रहा है।

कठिन परिश्रमसाध्य व्याकरणके बिना ही संस्कृतका अध्ययन हो—ऐसे विचार रखनेवाला एक संस्कृत-समर्थक वर्ग हमारेमें हैं। इस मनोवृत्तिके अनुसार आयोजित संस्कृतका अध्ययनक्रम यदि ग्रहण कर लिया जाय तो इससे संस्कृतकी नींव दुर्बल और निःसार हो जायेगी। भाषा पर पूर्ण आधिपत्य पानेके लिए यह पूर्वापेक्षित है कि उसके व्याकरणका सारभूत ज्ञान किया जाय। आजके प्रत्येक विद्यार्थीके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह व्याकरणका उतने परिश्रमसे लम्बे समय तक अध्ययन करे जैसे कि प्राचीन भारतमें किया जाता था, जिसका चीनी यात्री इ-त्सिग* ने अपने संस्मरणोंमें उल्लेख किया है; परन्तु व्याकरण-सम्बन्धी सरल नियमोंका पर्याप्त

---

* I-tsing by J. Takakasu P 175

ज्ञान, जैसा कि कालुकौमुदी में निहित है, संस्कृतका स्वरूप समझनेके लिए अनिवार्यतः अपेक्षित है।

संस्कृतमें लिखी हुई एक ऐसी नई संस्कृत-व्याकरण जो वर्तमान-कालीन छात्र-वर्गकी व्यावहारिक आवश्यकताओंको पूर्ण करती है, का आजके समय प्रकाशन निश्चिततया प्रशंसनीय है एवं यह इस तथ्यकी ओर संकेत करता है कि संस्कृत लैटिन और ग्रीककी तरह 'मृत-भाषा' नहीं है।

संस्कृत और योरपकी प्राचीन भाषाओंमें समानता आंकना अन्यायपूर्ण होगा। आज भी इस देशमें लगभग दश हजार ऐसी पाठशालाएं हैं, जिनमें लाखों विद्यार्थी संस्कृत-विद्याकी विविध शाखाओंके अध्ययनमें सम्पूर्ण निरत होते हुए आश्रय पा रहे हैं और भारतवर्षमें सहस्रों ऐसे व्यक्ति भी हैं, जो धारा-प्रवाह संस्कृत बोल सकते हैं। संस्कृतकी ही यह विशेषता है कि वह आज भी दूरवर्ती लोगों—जैसे बंगाल, मलावार या बम्बईसे है, के विचारोंके आदान-प्रदानका साधन बनती हुई बहुधा एक राष्ट्रीय भाषाका काम करती है।

समस्त संस्कृत-प्रेमियोंको यह जान कर हर्ष होगा कि तेरापन्थ-जैन-संघके कर्मठ कार्यकर्त्ता अपने नवम आचार्य श्री श्री तुलसीरामजी स्वामीके प्रतापपूर्ण एवं स्फूर्तिमय नेतृत्वमें संस्कृत-विद्याके प्रसारके लिए यत्नशील हैं। वे इसे पूर्णतया जानते हैं कि संस्कृतका महत्त्व केवल इसीलिए नहीं कि वह भारतकी प्रादेशिक भाषाओंका उद्गम है और न इसीलिए है कि वह युग-युग पर्यन्त राष्ट्रके जीवनमें ऐक्य-शक्तिका

संचार करनेवाली है परन्तु इसलिए है कि उसमें ज्ञान तथा विचारोंकी वह निधि है, जो द्वेष, संघर्ष और हिंसा द्वारा विशृंखलित संसारके लिए धार्मिक और आध्यात्मिक मूल्योंका पुनः संस्थापन कर सकती है।

(Sd.) प्रो० दुर्गामोहन भट्टाचार्य्य एम० ए०
काव्य-सांख्य-पुराण-तीर्थ
लेक्चरार—कलकत्ता-विश्वविद्यालय
अध्यक्ष—
संस्कृत-विभाग, स्कॉटिश चर्च कालेज,
कलकत्ता।

प्राग् ज्ञातव्यम्

'विद्ययामृतमश्नुते' इति सूक्तिनटी येषां हृदयाङ्गणे नरीनर्ति, ते विदुषां मौलिमणयः कलिकलहाऽहिकवलितानां पुंसां विद्याऽऽश्रितं पीयूषमेव प्राणरक्षणार्थं परमौषधं मन्यन्ते। यद्यपि सा विद्या केवलमर्थरूपैव, तथापि शब्दसमवेतत्वात् शब्दैर्विना नाधिगम्यते, इति अर्थार्थिभिरनभिलषिता अपि शब्दा इक्षुरसेच्छुभिरिक्षुकाण्डा इव आश्रीयन्ते।

तेषामर्थात्मकानां शब्दानां संग्रह एव ग्रन्थः, तस्येति ग्रन्थपाथोधेर्मन्थनेन विना न सुलभं विद्याऽमृतमिति शास्त्रसञ्चयो रत्नराशिरिव सुरक्षाभाजनं भवति। एतां शास्त्रमञ्जूषापरित्रातामेव विद्यामधिकृत्य अत्रत्याः पण्डिताः सकलगुणमण्डिता भवन्तो नानादेशानां गुरुपदमलञ्चक्रुः।

उक्तमपि—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

दैवदुर्विपाकेन यवनैराक्रान्तायाममुष्यामार्यमेदिन्यां संस्कृतिमपि निर्मूलत उन्मूलयितुं तैस्तैरस्मत्पूर्वपुरुषोपार्जिता ग्रन्थकोटिः कपिभिः

कुसुममालेव दुरलावि। अन्तरिक्षे विलीनस्य तस्याऽगाधबोधोदधेरर्घार्थं स्वकीयाऽश्रुश्रेणिमेव विसृजामः।

तदनन्तरं राजलक्ष्मीं परिणयद्भिर्गौरैरपि अस्मान् विद्यामातृविरहवह्निना दग्धुमस्माकं संस्कृतभाषा निराशापदे स्थापिता। स्तनन्धया अपि स्वजनन्याः स्तन्यपानतो विमुखतां लेभिमहे। अनाकुला वयमागलमाङ्गलभाषागिलनार्थं विवशा अभूम। कालत्रयेऽपि मर्तुमनुचिताऽस्माकममरभाषा मृतेव घोषिता। विदेशिनो नरेशाः संस्कृतभाषाकामधेनुं पीयूषपयो दोहं दोहं स्वदेशं प्रेषयामासुः।

अद्यतनी स्थितिः

गान्धिबुद्ध्या पञ्चत्वं प्राप्तेऽपि पारतन्त्र्ये पारे पारावारं गतेष्वपि च गौरेषु गौरगिरा नाद्यावधि संस्कृतस्योरःस्थलादवरोहतीति विस्मयमया भवामः। चतुर्दशविद्यानां चतुःषष्टिकलानाञ्च अस्मद्भाषापुष्पवाटिकायामेव विश्रामोऽभूदिति सर्वथा सत्ये केऽपीतिहासविदुरा न संस्मरते।

व्याकरणस्य प्रयोजकत्वम्

साहित्यस्वर्गस्य शब्दशास्त्रमेव सोपानपथमिति व्याकरणमत्यादरणीयं वस्तु। अवैयाकरणा नैयायिका अपि यथा पशवस्तथा तृणव इति कथयन्तो न शोभन्ते। पूर्वप्रयोगानुसारीणीति व्याकरणानि—इति तेषां निष्प्रयोजनत्वमेव—स्वतः सिद्धस्य साहित्यस्य सिद्धेरनावश्यकत्वादिति नोट्टङ्कनीयम्, जगतः प्रवाहस्याऽनादित्वाद्धेतो

को हि वृक्षबीजयोरिव साहित्यव्याकरणयोरेकतरस्याऽऽद्यत्वनिर्णयार्थमव्यवस्थामालिङ्गेत्। यादृशं सर्वरूपसम्पन्नं गीर्वाणगिरो व्याकरणं लभ्यते न तादृशमन्यत्रेति संस्कृतस्याऽद्वितीयत्वं प्रतीयते। अस्य सूत्रचक्रव्यूहं भेत्तुं कोऽप्यपशब्दसपत्नः समर्थो न भवतीति पाणिनिप्रभृतीन् को न पणायेत्।

शाब्दिकानां स्मृतिः

के के शाब्दिका अत्र अपारविद्यासिन्धुसेतुनिर्माणे नलनीला जाता इति तान् वयं नाम्ना संख्यातुमक्षमास्तथापि एकं पद्यमुपपद्य कांश्चिदेवं स्मरामः। यथा—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

सारस्वतकारेण अनुभूतिस्वरूपाचार्येणाऽपि "इन्द्रादयोऽपि यस्यान्तमिति" इन्द्रादय एव निरदेशिषत। एतेषु कः कतमं समयमलङ्करोतिस्म इति प्रश्नं समाधातुं कोऽप्यैतिहासिकः साहसं न सृजति। पूर्वपद्धतिमेव प्रपन्ना नवीनाः शाब्दिकाः सुगमशैलिसम्पन्नाः सन्तः स्वेन स्वेन यशसा जगद्धवलीकुर्वन्तीति न कश्चन सन्देहः।

परिवर्तनस्य रूपरेखा

'इको[1] यणचीति' प्राचीनपाणिनिप्रत्याहारगणनापरिश्रान्तचेता नवीनानुभूतिस्वरूपाचार्यरचितैः "इयं[2] स्वरे, उवम्, ऋरम्, लृलम्" इति सूत्रैः सरलतामालम्ब्य को न शान्तिमाश्रयते।

१—सिद्धान्त कौमुदी ६। १। ७७।

२—सारस्वत व्याकरणे सन्धिप्रकरणम्।

व्याकरणानां तुलनात्मकमध्ययनम्

प्राचीनेषु अर्वाचीनेषु कतमो व्याकरणग्रन्थोऽत्युत्तम इति निन्दास्तुतिपूर्वकं विवेचनन्त्वनुचितम्, स्वस्वदृष्टिकोणेन सर्वेषामेव ग्राह्यत्वात्। को हि चिनुयात् त्रिकटुगतानां शुण्ठीमरिचकृष्णानामन्यतमस्योत्तमत्वम्। तथापि व्याकृतय आरम्भे स्वल्पसलिलाः सरित इव उत्तरोत्तरं वर्द्धन्ते इत्यत्र संशयो नावकाशं भजति। प्राच्यान् परिपूज्यानेव मन्यामहे तथापि कविकुलकिरीटस्य कालिदासस्य "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" इति सुभाषितं स्मारं स्मारं नवैर्नवैर्निर्माणकुसुमैः साहित्योद्यानं विकसितं दिदृक्षामः।

साम्प्रतं पाणिनीयमेव पूजास्पदं प्राप्तमिति सर्वेषामेव विदुषां हर्षविषयः, किन्तु तत्प्राच्यत्वमेव पूजायां प्रमाणमिति नाङ्गीकुर्मः शाकटायनादीनां तत्पूर्वजातत्वात्। पाणिनिनाऽपि "लङः शाकटायनस्यैव"। ३। ४। १११ इति स्फुटमेव शाकटायनस्य पूर्वत्वं प्रकटितम्। अतः पाणिनेरविकलमेव सूत्रशृंखलं बुधजनमनोमोहनाय अलम्।

पाणिनीयं हैमशब्दानुशासनञ्च

यद्यपि पाणिनीयस्य पाणिनिरेव प्राणाऽऽधारस्तथापि कतिपयैः कात्यायनवार्तिकैः पतञ्जलिभाष्येन च विना नैतत्पूर्तिं प्राप्नोतीति मुनित्रयविरचितमेव प्रतीयते। सिद्धान्तकौमुदीनिर्मात्रा भट्टोजिदीक्षितेनाऽपि "मुनित्रयं नमस्कृत्य" इत्यादिना एष एव पक्षः कक्षी-

१—मालविकाग्निमित्रम।

कृतः। मुनित्रयेणैव निष्पन्नमिति व्याकरणमाक्षिप्य हैमशब्दानुशासनस्य विधाता हेमचन्द्रः केनचित् कविनाऽमुना प्रकारेण स्तुतः।

किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनाऽपि हि येनेदृक् कृतं शब्दानुशासनम्॥

अध्ययन-परिपाटी

व्याकरणाध्ययनं द्विविधम्—अष्टाध्यायीसूत्रक्रमेण, कौमुद्याः सिद्धिक्रमेण च। एकस्तृतीयोऽपि क्रमो गौरगुरुप्रसादादवगतो यत्र सिद्धिमातुः कुक्षिमकाङ्क्षित्वैव शब्दधातुरूपाऽपत्यानि कर्णवदुत्पद्यन्ते। उपर्युक्तयोरुभयोरपि क्रमयोः कतरः कल्पतरुः कतरश्च किङ्किरात इति वितण्डादोर्दण्डखण्डितपाण्डित्यावयं स्याद्वादस्यैव शरणमाश्रित्य सुखं श्वसिमः। तृतीयक्रमानुगास्तु सूत्रक्रमहिमगिरेर्गभीरगुहागमनं विनैव विशुद्धसंस्कृतसोमस्य स्वरसं पातुमुद्घाटिताननाः भवन्तो लोकोपहृतामुपहासश्रियमेवाऽऽश्लिष्यन्ति। केचिद् व्याकरणवैकुण्ठस्योपकण्ठमपि नवाविष्कृतवस्तूनां संज्ञासुधासिद्धेरभावं दर्शयित्वा देवभाषां निन्दन्तो दितिसुतानपि अतिक्रामन्ति, ते धातुपाठस्य भास्वत इव प्रकाशे नवसंज्ञासृष्टिनिर्मातॄणां विधातृसदृशानां विविधधातूनां दर्शनार्थं कथमुलूकायन्त इति महदाश्चर्यम्।

विद्यायास्त्रैरूप्यम्

अध्ययनमध्यापनं निर्माणञ्चेति विद्यायास्त्रैरूप्यमिति निर्माणं विना न तस्याः सर्वतोमुखी सिद्धिस्ततो निर्माणनैरन्तर्यमपि महदा-

वश्यकं वर्तते । पूर्वकृतान्येव व्याकरणानि पर्य्याप्तानीति न सन्तोषः स्वागतमर्हति, अम्भसा सत्यप्यगाधेऽम्भोधौ जलाऽऽगमाऽनवरोधात् । राष्ट्रभाषामणिमालाऽलंकृतायां हिन्द्यां क नन्नाय संस्कृताय सम्मानमिति विचारो न बुद्धिनिःश्रेणिमारोहति, हिन्दीगङ्गायाः संस्कृतहिमवत एव प्रभवत्वात् ।

आत्मैव विशुद्धः सन् परमात्मा भवतीति व्याकृतिपरिष्कृता हिन्दी संस्कृतत्वमवाप्स्यतीति आशा न वारिबुद्बुदोपमा ।

भिक्षुशब्दानुशासनस्य निर्माणम्

आंग्लयुगं भोजयुगे परिणमन् पुण्यपयसा पवित्रगात्रो जैनश्वेताम्बरतेरापन्थाधिपः कालुरामाऽऽचार्यो निरस्ताऽज्ञानतृणे स्वसाधुसङ्घक्षेत्रे देवभाषाकल्पवल्ल्या बीजमवपत् । आयाससलिलसिक्तायास्तस्याश्चिरकालेन तच्छिष्येण चौथमल्लमुनिना भिक्षुशब्दानुशासनं नाम एकं मधुरं फलं प्राप्तं तदमरफलं गुरवे च निवेदितम् ।

तेनाऽपरिमितेन गुरुणा वितीर्यमाणेन अखण्डपाण्डित्यमादाय साधुसमुदाय उर्वीतलं ध्वस्तध्वान्तं करोति ।

भिक्षुशब्दानुशासनस्य क्रमपार्थक्यनिदर्शनम्

यस्य च शब्दशास्त्रस्य त्रिवेण्यात्मके सूत्रप्रयागे पाणिनिसुरापगायाः कात्यायनकालिन्द्याः पतञ्जलिसरस्वत्याश्च पवित्रपाठपाथोभिरेकत्रैव स्नानं वितन्यते । यथा—

पाणिनिः प्राह—'शिल्पिनिष्वुन्' ३। १। १४५। कात्यायनः कथयति—'नृतिखनिरञ्जिभ्य एव' भाष्यञ्च (पतञ्जलेः) भणति—'नृतिखनिभ्यामेव ष्वुन्' उणादौ क्वनि पुंयोगेन रजकीति। भिक्षुशब्दानुशासनं शास्ति—'नृतिखनिरञ्जिभ्यः शिल्पिन्यकट्' ।५।१।७६

तथा च—पाणिनिः—गापोष्टक् ३। २। ८। कात्यायनः 'पिबतेः सुराशीध्वोरिति वाच्यम्' भिक्षुशब्दानुशासनम्—'अनुपसर्गाद् गायष्टक्' ।५।२।३। सुराशीध्वोः पिबः। ५।२।४।

यस्मिंश्च क्वचित् सौगम्यं गम्यते। यथा—णत्वविधाने हेमचंद्रः पुरगादीनुपेक्ष्य केवलेन[1] वण इति निर्देशेनैव णत्वं विदधाति।

भिक्षुशब्दानुशासनेन "पुरगामिश्रकासिध्रकासारिकाकोटरेभ्यो वनस्य। २ ।२।७२ इति वननकारस्य णत्वं विधाय सुगमताऽकारि।

एवमेव क्वचिद् यद् भिक्षुशब्दानुशासनं पाणिनीयहैमशब्दानुशासनयोर्गणगूहितं गहनगगनायमाने द्वन्द्वसमासे पूर्वं परं वा निपततां पतत्रिणामिव शब्दानां सूत्रसंग्रहेण सीमानं निर्धारयति।

यथा—'बिम्बोष्ठादिषु वा'। ३। १। १६७, 'शकृन्मूत्रादिषु वा' ३। १। १६९, 'न जायापत्यादिषु' ३। १। १७१, 'गुणवृद्ध्यादिषु वा' ३। १। १७२, 'न शूद्राऽऽर्यादिषु' ३। १। १७४, 'नोदूखलमुसलादिषु' ३। १। १७५, 'समीरणाग्न्यादिषु वा' ३। १।१७८, 'न नरनारायणादिषु' ३। १। १८०, 'वसन्तग्रीष्मादिषु वा' ३। १। १८३,

---

टिप्पणम् १—कोटरमिश्रकासिध्रकपुरगसारिकस्य वणे। ३। २। ७६
—सिद्धहैमशब्दानुशासनम्

'न पाण्डुधृतराष्ट्रादिषु' ३ । १ । १८४, 'भीमसेनार्जुनादिषु वा' ३ । १ । १८५, 'न पुष्यपुनर्वस्वादिषु' ३ । १ । १८६ ।

कालुकौमुदी

तदेव सफलतान्वेषकं भिक्षुशब्दानुशासनं बुद्धिविकलेषु लोकेषु प्रवेशमिच्छत् सीताभिलाषुकोऽनेकभटजटिले लङ्कापुरे प्रविविक्षुर्हनूमानिव स्वमेव कायं कालुकौमुदीमिषेण लघीयांसमकार्षीत् ।

सुरदेशोऽपि सुरभाषाप्रसाराय सुरेशस्य स्वीक्रियमाणे आमंत्रणे कालुरामाचार्यः स्वपदव्यामभिषिक्तवान् स्वतुल्यतुलसीरामाचार्यम् । अगणितगुणविभूषितनवनवमाचाऽऽचार्यविभावसुविभासितायां भारतभुवि गुर्वनुगृहीतसर्वसाधुसाध्वीसमधिकृतभारतीभाण्डागारात् मिलिन्देनाऽरविन्दान्मरन्दबिन्दुरिव साधुशास्त्रधारणरीतिमनुल्लङ्घ्यैव सर्वसाधारणध्वान्तमपहर्तुं कार्यकुशलेन आदर्शसाहित्यसंघेन कालुकौमुदी अवगता प्रकाशिता च ।

सेयं कालुकौमुदी अदूषितं वैदुष्यं दर्शयन्ती छात्राणां हृदये अहिंसा इव अपवर्गोदयं करिष्यतीति अनिशमाशास्महे ।

दीपावल्याम्, २००७   पं० रघुनन्दन शर्मा 'भिषगाचार्यः'
हांसी (पंजाब)   अलीगढ़ान्तर्गतसोनामयीनिवासी

जीवन-परिचय :

मुनिश्रीचौथमल्लस्वामीनां जन्म साहित्यसंस्कृतिकलानां कमनीये केन्द्रे मालवप्रदेशे 'जावद'नाम्नि नगरे १९५० विक्रमाब्दे कार्तिक-शुक्लप्रतिपदि 'चोरड़िया'न्वयेऽभूत्। एतेषां पितुर्नाम 'श्रीप्यारचंद्र' महोदयो मातुश्च 'सुन्दरबाई' इत्यासीत्। कुले चैतेषां नैसर्गिकी धर्मनिष्ठा सहजा धर्मश्रद्धा च विलसति। तत्त्वज्ञाने चाप्येतेषां पारिवारिका जनाः प्रशस्यरुचिमन्तः समाजे प्रचुरप्रतिष्ठावन्तश्च सन्ति। नगरसम्बन्धिषु समाजसम्बन्धिषु च समग्रेषु कार्य्य-जातेषु तेषां (पारिवारिकजनानां) प्रामुख्यं विराजते।

मुनिश्रीचौथमल्लस्वामिषु शैशव एव प्रखरप्रतिभाशालित्वं समु-ज्ज्वलायतिद्योतकलक्ष्मसाम्राज्यं च प्रकटितमासीत्। तस्मिन्नेव वयसि चैतेषां प्रकृष्टा धर्माभिरुचिः सर्वान् चमत्कृतानिव विदधा-तिस्म। सांसारिकेषु पदार्थजातेषु पृथग्जनोचितां सरसतां सुखदतां रमणीयताञ्चाननुभवन्तोऽत्रभवन्तः स्वीयया धर्मनिष्ठा-नुरञ्जितया प्रकृत्या विराजमाना आसन्। प्रतिपलं प्रवर्धमानेयं धर्माभिरुचिश्चैनं सीमानं सम्प्राप्तवती यदिमेऽसारमियं संसारं परित्यज्य सन्यासव्रतं—भागवतीं दीक्षां ग्रहीतुं स्वभव्यभावनां

प्रकटीचक्रुः। श्रुत्वैव चेमामाकस्मिकीमसंभाव्यां च स्वकुलनन्दनगिरं हितैषिणः स्वजनाश्चमत्कृता विस्मयान्विता इव तस्थुरूचुश्च—भोः! सुकुमारेऽस्मिन् वयसि दीक्षा! नैतत् कदापि संभवि। सांसारिकमोहवशात् पारिवारिकास्ते जना विविधैः प्रलोभनैः प्रकारैश्चैतान् स्वभव्यभावनाभावितपथाच्चालयितुं दूरीकर्तुं च भृशमचेष्टन्त, साधुजीवनस्य कष्टसाध्यसाधनायाश्चित्रमप्युपस्थापितवन्त एषामग्रे किन्तु मनस्वी कार्यार्थी न गणयति सुखं न च दुःखमिति न्यायादेते स्वद्रढिष्ठनिश्चयोपरि हिमाद्रिरिव दृढतया तिष्ठन्तः स्वभव्यभावनायास्तिलमात्रमपि न विचेलुः।

स्वकृता विविधाश्चेष्टा निष्फला विज्ञाय यदा तैः सांसारिकहितकामुकैर्निर्णीतं नायं बालः कदाचन गृहे (गार्हस्थ्ये) स्थास्यति, चेदयं बलादेनं गृहे रोद्धुं प्रयतिष्यामहे, शुभोदर्कं भविष्यतीति। तदा ते तत्समयविराजमानांस्तपःपूतकायांस्तेरापन्थसंघस्य सप्तमाचार्य्यान् श्रीडालचन्द्रगणिवर्य्यान् स्वबालस्य दीक्षायै प्रार्थयामासुः।

पूज्यपादैराचार्य्यवर्य्यैरेतेषां (श्री चौथममहाभागानाम्) जीवनं निरीक्ष्य वैराग्यभावञ्च परीक्ष्य योग्यत्वञ्चावगत्यैतेभ्यो दीक्षास्वीकृतिः प्रादायि। १९६५ विक्रमाब्दे चैत्रशुक्लदशम्यां राजस्थानप्रान्तान्तर्गतलाडनूंनगरे एतैर्दीक्षासंस्कारः पूज्यपादेभ्यः समलम्भि।

आधिक्येनैतेषामध्ययनादिकं स्वनामधन्यानां विद्याविभूषितानां श्रीकालुरामाचार्य्यवर्य्याणां सेवायां समभूत्। एते जैनागमातिरिक्तं न्यायसाहित्यदर्शनव्याकरणकोशकाव्यादिविविधशास्त्राणि

साङ्गोपाङ्गमधीत्य तत्तद्विषयेषु प्रौढ़ं पाण्डित्यमलभन्त। व्याकरण-ञ्चैतेषां सर्वाधिकप्रियविषय आसीत्। एतैः पाणिनीयशाकटायन-हैमकलापसारस्वतसिद्धान्तचन्द्रिकामुग्धबोधसारकौमुदीजैनेन्द्रादि-विविधव्याकरणानां गम्भीरं मननं सविवेचनमनुशीलनञ्च प्रकृत्या-गाधशब्दशास्त्रपाथोनिधिरनायासेनैव तीर्णः।

पूज्यपादानांश्रीकालुरामाचार्य्यवराणामेषा, संप्रधारणाऽसीत—"संस्कृतभाषायाः कश्चन सरलः सुबोधः समयोपयोगी च व्याकरण-ग्रन्थश्चेत् स्यात् तर्हि संस्कृतशिक्षार्थिनां कृते महत् सौकर्य्यं सौविध्यञ्च समुपजायेते"ति। यतो वर्तमानोपलभ्यमानेषु प्रचल-द्रूपेषु च व्याकरणग्रन्थेषु सारस्वतचन्द्रिकेऽधिकं संक्षिप्ते, सिद्धांत-कौमुदी च वार्तिकफक्किकाद्याधिक्यवशाज्जटिला हैमशब्दानु-शासनस्य रचनापद्धतिश्च काठिन्यान्विता वरीवर्ति।

आचार्य्यवर्य्याणां विद्वद्वरिष्ठैः सुशिष्यैर्मुनिश्रीचौथमल्लस्वामिभिः स्वगुरुचरणानामुपर्युक्तभावनायै सारूप्यं प्रादायि। एतैः १९८० विक्रमाब्दात् १९८८ यावन्नववत्सरपर्य्यन्तमहर्निशमनवरतञ्च परिश्रम्य तेरापन्थप्रवर्तकाद्याचार्य्याणामुषोवन्दनीयानां श्रीभिक्षु-गणिवर्य्याणां नामोपरि भिक्षुशब्दानुशासनं नाम सर्वांगसुन्दर-मभिनवव्याकरणं प्राणायि, यस्मिंश्चोणादिपाठधातुपाठन्यायदर्पणा-दीन्यपि साधु सन्निवेशितानि सन्ति। महति चास्मिन् कार्य्येऽ-लीगढ़ान्तर्गत--सोनामई-वास्तव्य--साहित्य--सेवि--आशुकविरत्न-पंडितरघुनन्दनशर्म्मायुर्वेदाचार्य्येणापि सुष्ठु सहयोगायितम्।

भिक्षुशब्दानुशासनस्य विस्तृतत्वात् प्रारम्भिकाः शिक्षार्थिनस्त-

तस्माद्धिकलाभार्जनं कर्तुं नार्हन्तीति कृत्वैभिर्मुनिवर्य्यैः पूर्णं वर्षं परिश्रम्यास्यैव महाव्याकरणस्य स्वगुरुचरणानां श्रीकालुरामाचार्य्यवराणां पावननाम्ना पवित्रीकृता कालुकौमुदी नाम संक्षिप्तप्रक्रिया प्राणायि ।

कालुकौमुदी संक्षिप्ता सत्यप्येकं सर्वांगसम्पन्नं परिपूर्णञ्च व्याकरणमस्ति। केवलमस्यैकस्यैव ग्रन्थस्याध्ययनेन संस्कृतव्याकरणस्य पर्य्याप्तबोधो लब्धुं शक्येतऽध्येतृभिः । तेरापन्थसंघे स्वरचनाकालत एवायं ग्रन्थः पठनपाठनयोः प्रयुज्यमानो विलसतितराम् । अस्याध्ययनोपरमे भिक्षुशब्दानुशासनस्य पठनं चलति साधुसंघे ।

मुनिवर्य्याणां श्रीचौथमल्लस्वामिनां जीवने विद्वत्तातिरिक्तं सौम्यतासरलताभद्रतादिगुणनिचया अपि मूर्तिमत्तयेव राजन्ते। मुखमुद्राया स्चैषां हार्दिक्यर्जुता स्पष्टतो निर्भरतीव ।

स्वदीक्षाकालत एवैत तत्तदाचार्यवराणां सेवायां स्थितेः सौभाग्यमाप्नुवन्तो विराजन्ते। प्रातस्मरणीयानां श्रीडालचन्द्राचार्यवर्य्याणां श्रीकालुरामाचार्य्यवर्य्याणाञ्चैभिस्तत्तत्स्वर्गारोहणकालपर्यन्तमनवरतं सेवाऽकारि। सम्प्रति च तरुणतपस्विनां विश्ववन्द्यानां श्रीतुलसीरामाचार्य्यवर्य्याणां सेवायां समर्पितमनोवपुषो विराजन्त एते।

आत्मीययाऽगाधगुरुभक्त्या शासनसेवया च प्रसन्नीभूतैः पूज्यपादैः श्रीकालुरामाचार्य्यवर्य्यैरेते बहुशः पुरस्कृताः। प्रौढया विद्वत्तया, श्रद्धासुमण्डितया गुरुसेवया च सहैतेषूत्कृष्टकवित्वं वक्तृत्वञ्चापि सुतरां चकास्ति।

एतेषां ज्यायांसो भ्रातरः श्रीकुन्दनमल्लस्वामिनः सरलप्रकृतिसम्पन्ना योग्यविद्वांसस्तत्त्वविदश्च सन्त आसन्। तत्त्वज्ञानशिक्षणे च तेषां शैल्यतिसुरम्या सुरुचिपूर्णा चासीत्।

मुनिश्रीकुन्दनमल्लस्वामिनः १९६२ विक्रमाब्दे पूज्यपादानां श्रीडालचन्द्राचार्य्यवर्य्याणां करकमलैर्दीक्षिता आसन्। तेषां लेखनकलासम्बन्धिदाक्ष्यं वस्तुतश्चमत्कार्यत्यद्भुतश्चासीत्। तैः स्वहस्तद्वारैकैकपत्रे क्रमशः ७००, १७००, २५००, श्लोका अलेखि यच्च लेखनकलायाः परमोत्कृष्टनिदर्शनमस्ति। प्रतिपत्रस्य विस्तारः ९ $\frac{१}{२}$" × ४ $\frac{१}{४}$" इति वर्तते। तेरापन्थशासने सर्वप्रथमं तैरेवेयत्सूक्ष्मलेखनं प्राकारि।

अध्यात्मप्रेरकतया कुशललेखकतया च सह तेषूत्तमचित्रकलापाटवमपि शुशुभे।

२००२ विक्रमाब्दे पौषकृष्णैकादश्यां राजस्थानान्तर्गतमोमासर ग्रामे तेषां स्वर्गवासः सञ्जातः।

तैर्यया निष्ठयाऽनवरतजागरूकतया च सह या शासनसेवा सुविहिता साऽनुकृतियोग्याऽस्ति।

स्वज्येष्ठभ्रातेव मुनिश्रीचौथमल्लस्वामिनः तेरापन्थशासनस्य यां प्रशस्यां सेवां विदधति सा तेरापन्थस्येतिहासे सदा स्वर्णाक्षरैरङ्किता स्थास्यति।

भिक्षुशब्दानुशासनकालुकौमुद्यौ व्याकरणजगति एतेषामद्भुते प्रदेये वर्तते। भारतीयवाङ्मयं आशंसोपचितहृदयं सदैतान् निर्निमेषं समवलोकयते। अलमिति विस्तरेण।

कलिकाता
आश्विनशुक्ल द्वितीयायाम् २००८,

छगनलाल शास्त्री
काव्यतीर्थः सा० रत्नम्

जीवन-परिचय

मुनिश्री चौथमलजीका जन्म साहित्य, कला व संस्कृतिके महान् केन्द्र मालव-प्रदेशमें—जावद नामक शहरमें संवत् १९५० कार्तिक शुक्ला १ को ओसवाल—चोड़रिया वंशमें हुआ। आपके पिताजीका नाम श्रीप्यारचन्दजी व माताजीका नाम श्रीसुन्दरबाई था। आपका परिवार धार्मिक निष्ठा व श्रद्धाके लिए सुप्रसिद्ध है। आपके परिवारके सदस्य तत्त्वज्ञानमें भी अच्छी अभिरुचि रखनेवाले हैं। धर्मनिष्ठा व तत्त्वरुचिके अतिरिक्त आपके परिवार की समाजमें बड़ी अच्छी प्रतिष्ठा है। समाजके-शहरके प्रत्येक सार्वजनिक कार्य्यमें उनका मुख्य हाथ रहता है।

बाल्यावस्थासे ही आप एक तीव्रबुद्धि व होनहार बालक थे। धार्मिक बातोंकी ओर आपकी अधिक अभिरुचि थी। सांसारिक वस्तुओंमें आपको विशेष सरसता अनुभव नहीं होती थी। यह धार्मिक रुचि बढ़ते-बढ़ते इस सीमा तक पहुंच गई कि आपने इस असार संसारको छोड़ सन्यासव्रत—दीक्षा ग्रहण करनेकी इच्छा व्यक्त की। घरवालोंने जब अपने होनहार बालकके मुंहसे यह बात सुनी तो वे दंग रह गये। उन्होंने कहा—इस सुकुमार वय

में दीक्षा ! यह कभी सम्भव नहीं होगा। उन्होंने इनको बहुत समझाया-बुझाया। साधु-जीवनकी कठिन साधनाका चित्र इनके सामने प्रस्तुत किया किन्तु—'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखम् न च सुखम्'—आप अपने दृढ़ निश्चय पर अडिग रहे। जब अभिभावकोंको यह विश्वास हो गया कि यह बालक घरमें नहीं रहेगा, और यदि बलात् इसे रक्खा जायगा तो इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। तब तेरापन्थके तत्कालीन आचार्य श्रीडालगणी (सप्तमाचार्य) के सन्मुख आपकी दीक्षाके लिए प्रार्थनाकी गई। आचार्यवरने आपके जीवनका निरीक्षण किया। आपके वैराग्यभावका परीक्षण किया। आपको योग्य जान दीक्षाकी स्वीकृति प्रदान की। सम्वत् १९६९ चैत्रशुक्ला १० को लाडनूं—राजस्थानमें आपका दीक्षा-संस्कार सम्पन्न हुआ।

आपका अध्ययन अधिकांशतः आचार्यश्री कालुगणीकी सेवा में सम्पन्न हुआ। आपने जैन आगमोंके अतिरिक्त साहित्य, न्याय, दर्शन, व्याकरण, कोश आदि विविध विषयोंका सांगोपांग अध्ययन किया। व्याकरण आपका सर्वाधिक प्रिय विषय रहा। आपने सारस्वत, सिद्धान्त-चन्द्रिका, पाणिनीय, शाकटायन, हैम, कलाप, मुग्धबोध, सारकौमुदी तथा जैनेन्द्र आदि विभिन्न व्याकरणोंका गम्भीर मनन व विवेचनापूर्ण अनुशीलन किया।

आचार्यश्री कालुगणीकी यह भावना थी कि संस्कृत-व्याकरण का एक समयोपयोगी सरल व सुबोध ग्रन्थ तैयार हो तो संस्कृतके विद्यार्थियोंके लिए बड़ी सुविधा हो सकती है। क्योंकि वर्तमानमें

उपलब्ध व्याकरणोंमें सारस्वत-चन्द्रिका अधिक संक्षिप्त है। सिद्धान्तकौमुदी वार्तिक, फक्किका आदिकी अधिकताके कारण जटिल है। हैम-शब्दानुशासनकी रचना-पद्धति कठिन है।

आचार्यश्रीके सुशिष्य विद्वद्वर मुनिश्री चौथमलजीने आपकी भावनाको साकार रूप दिया। आपने सम्वत् १९८० से १९८८ तक अहर्निश अनवरत परिश्रम करके तेरापन्थके प्रवर्तक आद्य आचार्य श्रीभिक्षुगणीके नामपर भिक्षु-शब्दानुशासन नामक सर्वांग-सुन्दर व्याकरण तैयार किया, जिसमें उणादिपाठ, धातुपाठ तथा न्यायदर्पण आदिका भी सुन्दर समावेश है। इस महान् कार्य्य में सोनामई—अलीगढ़निवासी आशुकविरत्न पं० रघुनन्दनजी शर्म्मा आयुर्वेदाचार्यका भी सहयोग रहा।

भिक्षु-शब्दानुशासनके विस्तृत होनेके कारण प्रारम्भिक छात्र उससे अधिक लाभ नहीं उठा सकते, यह सोच आपने एक वर्षके अनवरत परिश्रमसे आचार्यश्री कालुगणीके नाम पर कालुकौमुदी नामक संक्षिप्त प्रक्रिया तैयार की।

कालुकौमुदी एक संक्षिप्त पर अपनेआपमें परिपूर्ण व्याकरण है। केवल इस एक पुस्तकके पढ़नेसे संस्कृत-व्याकरणका सामान्यतः पूरा बोध हो सकता है। तेरापंथ-संघमें इसका पठन-पाठन इसके रचनाकालसे ही चालू है। इसके पठनके पश्चात् भिक्षु-शब्दानुशासनका अध्ययन चलता है।

एक मंजे हुए विद्वान् होनेके साथ-साथ मुनिश्रीका जीवन सौम्यता, सरलता तथा भद्रताका साकार निदर्शन है। आपकी

मुख-मुद्रासे आपके हृदयकी ऋजुता स्पष्टतः अनुमेय है।

आपको अपने दीक्षाकालसे ही आचार्योंकी सेवामें रहनेका सौभाग्य प्राप्त होता आ रहा है। आपने सप्तमाचार्य श्री डालगणी व अष्टमाचार्य श्री कालुगणीकी उनके स्वर्गारोहण पर्यन्त सेवा की। वर्तमानमें आचार्यश्री तुलसीगणीकी सेवामें अपना तन-मन अर्पण किये हुए हैं।

आपकी अटूट गुरुभक्ति व शासन-सेवासे प्रसन्न होकर आचार्यश्री कालुगणीने आपको विविधरूपमें पुरस्कृत किया।

प्रौढ़ विद्वान्, श्रद्धापरायण गुरुसेवी, आदर्श साधक होनेके साथ-साथ आप उत्कृष्ट वक्ता तथा कवि भी हैं।

आपके बड़े भाई मुनिश्री कुन्दनमलजी एक सरल प्रकृति, योग्य विद्वान् व तत्त्वज्ञानी सन्त थे। तत्त्व-ज्ञान-शिक्षणकी उनकी शैली बहुत सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण थी।

मुनिश्री कुन्दनमलजी सम्वत् १९६२ में सप्तमाचार्य श्री डाल-गणीके कर-कमलोंसे दीक्षित हुए थे। उनकी लेखन-कला-सम्बन्धी दक्षता वास्तवमें अनूठी थी। उन्होंने अपने हाथसे एक-एक पत्रमें क्रमशः ७००, १७०० तथा २५०० श्लोक लिखे, जो लेखन-कलाके उत्कृष्ट नमूने हैं। पत्रकी लम्बाई ६॥ इञ्च व चौड़ाई ४। इञ्च है। तेरापंथ-शासनमें सर्वप्रथम उन्होंने ही इतने सूक्ष्म पत्र लिखे।

अध्यात्म-प्रेरक सन्त तथा कुशल लेखक होनेके साथ-साथ वे उत्तम चित्रकार भी थे।

उनका स्वर्गवास संवत् २००२ पौष कृष्णा ११ को मोमासर (राजस्थान) में हुआ।

उन्होंने आजीवन जिस निष्ठा व सतत चेष्टाके साथ शासन की सेवा की, वह वास्तवमें अनुकरणीय है।

अपने ज्येष्ठ भ्राताकी तरह मुनिश्री चौथमलजी शासनकी जो प्रशंसनीय सेवा कर रहे हैं, वह तेरापंथके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंमें अङ्कित रहेगी।

भिक्षु-शब्दानुशासन तथा कालुकौमुदी व्याकरण-जगत्के लिए आपकी अनूठी देन है। भारतीय वाङ्मयको आपसे बहुत बड़ी आशाएं हैं।

दीपावली, सं० २००७,
हाँसी (पंजाब)

छगनलाल शास्त्री
काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

प्रकाशकीयम्

पुरातनं भारतीयं वाङ्मयं बाहुल्येन संस्कृतभाषानिबद्धमिति केषामपि विदुषामदृष्टिगोचरं नास्ति। अतएव भारतीयसंस्कृत्या ज्ञानायाऽनुशीलनाय च गीर्वाणवाण्या अध्ययनं सुतरामपेक्षितं वरीवर्ति। तद्दते संस्कृत्या हृदयं स्पर्ष्टुमपि दुःशकम्। गीर्वाणवाणी च प्रचुरश्रमसमयसाध्यकठिनव्याकरणपरिज्ञानसापेक्षेति सुस्पष्टं तज्ज्ञानां विदुषाम्। इमां कठिनतां दुरूहताञ्चापाकर्तुं प्रौढवैयाकरणैर्मुनिश्रीचौथमल्लस्वामिभिः स्वगुरुचरणानां तेरापन्थाष्टमाचार्य्याणां श्रीकालुरामगणिवर्य्याणां पूतनाम्ना पवित्रीकृतं भिक्षुशब्दानुशासनप्रक्रियारूपं 'कालु-कौमुदी' नामाभिनवं व्याकरणमध्येतॄणां सौविध्याय सौकर्य्याय च प्राणायि यत् संक्षिप्तं सदपि स्वस्मिन्नेकं परिपूर्णं व्याकरणमस्ति। तच्चादर्शसाहित्यसंघेनाऽत्मशिक्षणमालायाः षष्ठपुष्परूपेण प्रकाश्यं नीयते।

ग्रन्थस्यास्यास्य सुसम्पादने प्रौढसाहित्यिकऽाशुकविरत्नपण्डित रघुनन्दनशर्म्मायुर्वेदाचार्य्येण बहु सहयोगायितं तत्कृते चादर्शसाहित्यसंघः पण्डितवरिष्ठायाऽस्मै शतशः साधुवादान् समर्पयन् परां मुदमनुभवति।

कलिकाता विश्वविद्यालयप्रवक्त्रा स्कॉटिशचर्चकालेजीयसंस्कृत-विभागाध्यक्षेन महायानसूत्र (बौद्धदर्शन) मुक्ताफलच्छान्दोग्य-मन्त्रभाष्यादिविविधग्रन्थसम्पादकेन सुप्रसिद्धविदुषा श्रीदुर्गामोहन-भट्टाचार्य एम० ए० सांख्यकाव्यपुराणतीर्थेन व्याकरणजगदपूर्व-ग्रन्थस्यास्य विद्वत्तापूर्णप्रस्तावनालेखनद्वारा या सहृदयता प्रादर्शि, तत्कृत आदर्शसाहित्यसंघः सहर्षमाभारं प्रदर्शयति।

संस्कृताध्येतारो ग्रन्थादस्मात् संस्कृतव्याकरणाध्ययने सौगम्येन सारल्येन च सफलतां लप्स्यन्त इत्याशास्महे।

—प्रकाशनमन्त्री

६

'कालुकोमुदी' आत्मशिक्षणमालायाः पष्ठं पुष्पं वरिवर्ति, यस्योद्देश्यश्च विलसति सरलेन स्वल्पश्रमसाध्येन च विधिना संस्कृतव्याकरणज्ञापनद्वारा भारतीयवाङ्मयप्रवेशपथदर्शनम्। कौमुद्या अस्याः सुश्रृङ्खलिते प्रकाशने चूरू (राजस्थान) वास्तव्याऽनन्यसाहित्यप्रेमिश्रीहनूतमलसुरानामहोदयेन स्वदिवंगतपितृचरणानां श्रीमुन्नालालमहोदयानां स्मृतौ नैतिकसहयोगेन सहाऽर्थिक योगं प्रदाय या सांस्कृतिकी साहित्यिकी च सुरुचिः प्रकटीकृता, सा सर्वेषां कृतेऽनुकृतियोग्याऽस्ति। आदर्शसाहित्यसंघ एतत्कृते तं प्रति सहर्षमाभारं प्रकटी करोति।

—प्रकाशनमन्त्री

कालुकौमुदीपूर्वार्धस्थविषयानुक्रमः

★ कालूकौमुदी ★

भक्तैः फलमासन्नं, क्रियते भगवत्प्रसादमासाद्य ।
श्रुतिरिति चरितार्थेयं, कालुकौमुद्युपागता हस्ते ॥१॥
श्रीकालोः सा फलदा, शुभदृक् श्लाघ्या हि केन सद्विधिना ।
औदार्य्यं यस्या इति, मम हस्ते लसति कौमुदी रम्या ॥२॥

—मुनिः चौथमल्लः

❀ ॐ नमः सिद्धेभ्यः ❀

श्रीमत्कालुं गुरुं नत्वा, भिक्षुशब्दानुशासनम् ।
कृत्वा तत्र प्रवेशाय, क्रियते कालुकौमुदी ॥१॥

संज्ञा-प्रकरणम्

(१) ॐ ॥ १ । १ । १ ।

ओमित्येतदक्षरम्, अर्हदशरीर्याचार्योपाध्यायमुनीनामाद्याक्षररूपं मङ्गलार्थं ग्रन्थस्यादौ प्रणिधेयम् ।

(२) सिद्धिरनेकान्तात् ॥ १ । १ । २ ।

नित्याऽनित्याद्यनेकः अन्तः स्वभावो यस्मिन् सोऽयमनेकान्तः, तस्मात् प्रकृतानां शब्दानां सिद्धिर्निष्पत्तिर्ज्ञातव्या ।

(३) अइउऋऌ-एऐओऔ-हयवरल-ञणनङम-झढधघभ-जडदगब-खफछठथ-चटतकप-शषसः ॥ १ । १ । ४ ।

प्रत्याहारसूत्रमेतद् असादिसंज्ञार्थम्, अत्र स्पष्टतार्थं स्वराणां सन्धिरविवक्षितः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः ।

(४) आद्यन्ताभ्यां प्रत्याहारे ॥ १ । १ । ५ ।

प्रत्याहारे गृह्यमाणा वर्णा आद्यन्ताभ्यां सह गृह्यन्ते । यथा—

अलप्रत्याहारे अइउऋऌएऐओऔहयवरल इति। झभप्रत्याहारे झढधघभ इति। एवं सर्वत्र।

(५) औदन्ताः स्वराः॥ १।१।६।

अकाराद्या औकारान्ता वर्णाः स्वरसंज्ञकाः स्युः।

(६) एकद्वित्रिमात्रा ह्रस्वदीर्घप्लुताः॥ १।१।७।

मात्रा कालविशेषः। एकद्वित्र्युच्चारणमात्रा औदन्ताः स्वराः क्रमेण ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञकाः स्युः। एकमात्रो ह्रस्वः, अ इ उ ऋ ऌ इति। द्विमात्रो दीर्घः, आ ई ऊ ॠ ॡ ए ऐ ओ औ इति। त्रिमात्रः प्लुतः, आ ३ ई ३ ऊ ३ इत्यादि। व्यञ्जनं त्वर्धमात्रिकम्।

(७) अवर्जा नामिनः॥ १।१।८।

अवर्णवर्जाः स्वरा नामिसंज्ञकाः स्युः।

(८) ऌदन्ताः समानाः॥ १।१।९।

ॡदन्ताः स्वराः समानसंज्ञकाः स्युः।

(९) एऐओऔ संध्यक्षराणि॥ १।१।१०।

एते स्वराः संध्यक्षरसंज्ञकाः स्युः।

(१०) अं अनुस्वारः॥ १।१।११।

अं इति अनुस्वारसंज्ञकः स्यात्, अकार उच्चारणार्थः।

(११) अः विसर्गः॥ १।१।१२।

अः इति विसर्गसंज्ञकः स्यात्।

(१२) ह्रस्वो लघुः॥ १।१।१३।

ह्रस्वो लघुसंज्ञकः स्यात्।

(१३) संयोगे गुरुः॥ १।१।१४।

संयोगे परे ह्रस्वो गुरुसंज्ञकः स्यात् ।

(१४) दीर्घः ॥ १ । १ । १५ ।

दीर्घो गुरुसंज्ञकः स्यात् ।

(१५) कुचुटुतुपु वर्गाः ॥ १ । १ । १६ ।

एते वर्गसंज्ञकाः स्युः, कु इति कखगघङ, चु इति चछजझञ । एवं सर्वत्र ।

(१६) स्वरानन्तरिता हसाः संयोगः ॥ १ । १ । १७ ।

स्वरैरनन्तरिता अव्यवहिता हसाः संयोगसंज्ञकाः स्युः ।

(१७) तुल्यस्थानाऽभ्यन्तरप्रयत्नः सवर्णः ॥ १ । १ । १८ ।

तुल्यौ स्थानाभ्यन्तरप्रयत्नौ येषां ते परस्परं सवर्णसंज्ञकाः स्युः । स्थानं कण्ठादि ।

अष्टौ स्थानानि वर्णाना-मुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च, नासिकोष्ठौ च तालु च ॥१॥

तत्र अकुहविसर्गाः कण्ठ्याः, इचुयशास्तालव्याः, ऋटुरषा मूर्धन्याः, लृतुलसा दन्त्याः, उपूपध्मानीया ओष्ठ्याः, एदैतौ कण्ठतालव्यौ, ओदौतौ कण्ठोष्ठ्यौ, वकारो दन्तौष्ठ्यः, जिह्वामूलीयो जिह्व्यः, अनुस्वारो नासिक्यः, ञमणनङमाः स्वस्थाननासिकास्थानाः । वर्गपञ्चमान्तस्थै-र्युक्तो हकार उरस्यः ।

आभ्यन्तरप्रयत्नश्चतुर्विधः—स्पृष्टः, ईषत्स्पृष्टः, विवृतः, ईषद्वि-वृतश्च । तत्र वर्ग्याः स्पृष्टाः, यरलवा ईषत्स्पृष्टाः, स्वरा विवृताः, शषसहा ईषद्विवृताः । ≍क इति जिह्वामूलीयः,)(प इति उपध्मा-नीयः, कपावुच्चारणार्थौ । यरलवा अन्तःस्थाः । शषसहा ऊष्माणः ।

अकारस्त्रिविधः—उदात्तानुदात्तस्वरितभेदात् । प्रत्येकं सानुनासिकनिरनुनासिकभेदात् षोढा । एते ह्रस्वस्य भेदाः । एवं दीर्घप्लुतयोरपि । तथा चाष्टादशभेदा अवर्णस्य ज्ञातव्याः । एवमिवर्णादीनामपि । सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वा न सन्तीति तेषां द्वादशभेदाः । वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः, ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदाः सवर्णाः । यवला द्विधा—सानुनासिका निरनुनासिकाश्च । मित्रवदागमः, शत्रुवदादेशः । वर्णग्रहणे सवर्णग्रहणम् । कारग्रहणे केवलग्रहणम् । तपरकरणं तावन्मात्रार्थम् ।

(१८) अन्त्यस्वरादिष्टिः ॥ १ । १ । ३४ ।

अन्त्यस्वरप्रभृतिवर्णष्टिसंज्ञकः स्यात् ।

(१९) अन्त्यात् पूर्व उपधा ॥ १ । १ । ३५ ।

अन्त्याद् वर्णात्पूर्वो यो वर्णः स उपधासंज्ञकः स्यात् ।

(२०) आदैदौदारो वृद्धिः ॥ १ । १ । ३६ ।

आत्, ऐत्, औत्, आर् इत्येते वृद्धिसंज्ञकाः स्युः ।

(२१) एदोदरो गुणः ॥ १ । १ ३७ ।

एत्, ओत्, अर्, इत्येते गुणसंज्ञकाः स्युः ।

(२२) सितिबादिर्विभक्तिः ॥ १ । १ । २१ ।

स्यादयस्तिबादयश्च प्रत्यया विभक्तिसंज्ञकाः स्युः ।

(२३) तदन्तं पदम् ॥ १ । १ । २२ ।

स्याद्यन्तं तिबाद्यन्तं च शब्दरूपं पदसंज्ञं स्यात् ।

(२४) कार्यायेत् ॥ १ । १ । ३८ ।

कस्मैचित् कार्याय निर्दिष्टो वर्ण इत्संज्ञकः स्यात् ।

(२५) तस्य लोपः ॥ १ । १ । ३९ ।

यस्येत्संज्ञा तस्य लोपः स्यात् ।

(२६) चादयो निपाताः ॥ १ । १ । ४० ।

चादिगणो निपातसंज्ञः स्यात् । च,[१] वा,[२] ह,[३] अह,[४] एव,[५] एवम्,[६] नूनम्,[७] शश्वत्,[८] कच्चित्,[९] हन्त,[१०] मा,[११] माङ्, न, नञ्, स्वधा,[१२] स्वाहा,[१३] अलम्,[१४] हि,[१५] अथ,[१६]

१—च—अन्वयसमाहारेतरेतरयोगसमुच्चयेषु ।

२—वा—विकल्पोपमानयोः ।

३—ह—अवधारणपादपूरणयोः ।

४—अह—निर्देशविनियोगकिलार्थेषु ।

५—एव—अवधारणपृथक्त्वपरिमाणेषु ।

६—एवम्—उपमानोपदेशप्रश्नावधारणप्रतिज्ञानेषु ।

७—नूनम्—तर्कार्थनिश्चययोः ।

८—शश्वत्—नित्यपुनःपुनरर्थयोः ।

९—कच्चित्—इष्टप्रश्ने ।

१०—हन्त—प्रीतिविषादसंप्रतिदानेषु ।

११—मा, माङ्, न, नञ्—एते निषेधे ।

१२—स्वधा—पितृबलौ ।

१३—स्वाहा—हविर्दाने ।

१४—अलम्—भूषणपर्याप्तिवारणेषु ।

१५—हि—हितावधारणयोः ।

१६—अथ—मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येषु ।

ओम्,[१] अथो,[२] नो,[३] भोस्,[४] भगोस्, अघोस् अघो, हंहो, हो, अहो, आहो, उताहो, हा,[५] ही,[६] हे, हैं, अयि, अररे, अरे, ननु,[७] उञ्,[८] कम्,[९] किम्,[१०] चिद्,[११] उत,[१२] बत,[१३] इव,[१४] नु,[१५] कच्चन,[१६] किमुत,[१७] किल,[१८]

१—ओम्—ब्रह्माभ्यादानाप्रतिश्रवणाभिमुखीकरणेषु ।

२—अथो—अन्वादेशादौ ।

३—नो—निषेधे ।

४—भोस्, भगोस्, अघोस्, अघो, हंहो, हो, अहो, आहो, उताहो, हे, हैं, अयि, अररे, अरे—एते सर्वेऽपि सम्बोधने ।

५—हा—विषादशून्यकीर्तिषु ।

६—ही—विस्मये ।

७—ननु—विरोधोक्त्यन्वयादिषु ।

८—उञ्—अस्तिसत्वररोषोक्तिषु ।

९—कम्—उदकसुखाकाशेषु ।

१०—किम्—प्रश्नवितर्कयोः

११—चिद्—प्रश्नावधारणयोः ।

१२—उत—विकल्पे ।

१३—बत—खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणेषु ।

१४—इव—उपमावधारणयोः ।

१५—नु—वितर्कपादपूरणयोः ।

१६—कच्चन—इष्टप्रश्ने ।

१७—किमुत—विकल्पे ।

१८—किल—संप्रश्नवार्त्तयोः ।

नवा,[1] खलु,[2] यदा,[3] जातु,[4] यदि,[5] यथा,[6] तथा,[7] पुरा, दिष्ट्या,[8] स्म,[9] इति,[10] सह,[11] अमा,[12] साकम्,[13] सार्धम्, अ,[14] आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, प्र, परा, अप, सम्, अनु, अव, निस्, निर्, दुस्, दुर्, वि, आङ्, नि, अधि, प्रति, परि, उप, अति, अपि, अभि, सु, उद् इत्यादि। सूत्रे बहुवचनादाकृतिगणोऽयम्।

(२७) प्रादिरुपसर्गः क्रियायोगे ॥ १ । १ । ४१ ।

चाद्यन्तर्गणः प्रादिः क्रियायोगे उपसर्गसंज्ञः स्यात्।

१—नवा—विभाषायाम्।

२—खलु—निषेधवाक्यालङ्कारजिज्ञासानुनयार्थेषु।

३—यदा—देशाद्यधिकरणे।

४—जातु—अवधारणपादपूरणयोः।

५—यदि—पक्षान्तरे।

६—यथा—योग्यतावीप्सार्थानतिवृत्तिसादृश्ये।

७—तथा—साम्ये।

८—दिष्ट्या—प्रतिसेवनसभाजनप्रतिलोम्येषु।

९—स्म—अतीतपादपूरणयोः।

१०—इति—पुराश्रुतौ।

११—सह—तुल्ययोगविद्यमानयोः।

१२—अमा—सहार्थसमीपयोः।

१३—साकम्-सार्धम्—द्वावपि सहार्थे।

१४—अ, आ...—एते चतुर्दशापि पादपूरणभर्त्सनामन्त्रणनिषेधेषु।

(२८) लोकात् ॥ १ । १ । ३ ।

उक्तातिरिक्तानां संज्ञानां न्यायानां च सिद्धिः शास्त्रप्रवृत्तये लोकाद् वेदितव्या ।

इति संज्ञा-प्रकरणम्

सन्धि-प्रकरणम्

अथ स्वर-सन्धिः

दधि+आनय इत्यवस्थायाम्—

(२९) इवर्णादीनां स्वरे यवरलाः ॥ १ । २ । १ ।

इवर्णोवर्णऋवर्णऌवर्णानां स्थाने स्वरे परे यथासंख्यं य, व, र, ल इत्येते आदेशाः स्युः। इति इकारस्य यत्वे।

(३०) अदीर्घाद्वसानैकहसयोः ॥ १ । ३ । २७ ।

अदीर्घात् स्वरात् परो रेफवर्जितो यसोऽनुद्विर्वा स्यात् अवसाने एकहसे च परे। इति धस्य द्वित्वे।

(३१) झबे जबा झसानाम् ॥ १ । ३ । ४३ ।

झसानां झबे परे जबाः स्युः। इति पूर्वधस्य दत्वे च। स्वरहीनं परेण संयोज्यम्। दद्ध्यानय। पक्षे दध्यानय। एवं गौरी+अत्र= गौर्यत्र। जलतुम्बिकान्यायेन रेफस्योर्ध्वगमनम्। मधु+अत्र= मध्वत्र, पितृ+अर्थः = पित्रर्थः, ऌ+अनुबन्धः= लनुबन्धः।

(३२) ह्रस्वोऽपदे वा ॥ १ । २ । २ ।

इवर्णादीनां ह्रस्वो वा स्यात् स्वरे परे न चैकपदे। नदि एषा, दधि अत्र, मधु अत्र, कर्तृ इदम्। पक्षे नद्येषा इत्यादि। ह्रस्वस्यापि ह्रस्वः पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तेः। ह्रस्वविधानसामर्थ्याच्च कार्यान्तरं न स्यात्। अपदे इति किम्—नद्यौ, वध्वौ, नद्युदकम्, वध्वाननम्।

(३३) एदैतोरयायौ ॥ १ । २ । ३ ।

एकारैकारयोः स्थाने स्वरे परे यथासंख्यम् अय्, आय् इत्यादेशौ स्याताम्। ने+अनम्=नयनम्, नै+अकः=नायकः।

(३४) ओदौतोरवावौ ॥ १ । २ । ४ ।

ओकारौकारयोः स्थाने स्वरे परे यथासंख्यम् अव्, आव् इत्यादेशौ स्याताम्। भो+अनम्=भवनम्, पौ+अकः=पावकः।

(३५) स्वरे वाऽसन्धिश्च ॥ १ । ३ । ५३ ।

अवर्ण-भो-भगो-अघोभ्यः परयोः पदान्ते वर्तमानयोर्यकारवकारयोर्लोपो वा स्यात् स्वरे परे न च सन्धिः। त आगताः, तयागताः, तस्मा इदम्, तस्मायिदम्, पट इह, पटविह, ता इमौ, ताविमौ।

(३६) समानानां सवर्णे दीर्घः सहः ॥ १ । २ । १२ ।

समानसंज्ञकानां वर्णानां सवर्णे परे परेण सह दीर्घः स्यात्। दण्डाग्रम्, श्रीशः, भानूदयः, होतॄकारः।

(३७) ऋलृवर्णौ वा ॥ १ । १ । १६ ।

ऋलृवर्णौ परस्परं सवर्णौ वा स्तः। होतृ+लृकारः=होतॄकारः।

(३८) अवर्णस्येवर्णादावेदोदरलः ॥ १ । २ । १३ ।

अवर्णस्य स्थाने इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण, लृवर्ण इत्येतेषु परेषु परेण

सह यथासंख्यम् एत्, ओत्, अर्, अल् इत्येते आदेशाः स्युः। जिनेन्द्रः, गङ्गेयम्, नवोदकम्, रमोपमा, जिनर्द्धिः।

(३९) झसानां झसे सवर्णे ॥ १ । ३ । ६३ ।

हसात् परेषां झसानां लोपो वा स्यात् सवर्णे झसे। जिनर्धिः, तवल्कारः।

(४०) एदैतोरैत् ॥ १ । २ । १९ ।

अवर्णस्य एकारे ऐकारे च परे परेण सह ऐकारः स्यात्। तवैषा, जिनैश्वर्यम्।

(४१) ओदौतोरौत् ॥ १ । २ । २२ ।

अवर्णस्य ओकारे औकारे च परे परेण सह औकारः स्यात्। श्रमणौघः, चैत्रौत्कण्ठ्यम्।

(४२) ऋणे प्रवसनकम्बलदशार्णवत्सरवत्सतरस्यार् ॥ १ । २ । १४

प्रादीनामवर्णस्य ऋणे परे परेण सह आर् स्यात्। प्रार्णम्, वसनार्णम्, कम्बलार्णम्, दशार्णम्, ऋणार्णम्, वत्सरार्णम्, वत्सतरार्णम्।

(४३) ऋत्युपसर्गस्य ॥ १ । २ । १६ ।

उपसर्गस्यावर्णस्य ऋकारादौ धातौ परे परेण सह आर् स्यात्। प्रार्च्छति।

(४४) एदोतोऽतः पदान्ते ॥ १ । २ । ३२ ।

एदोद्भ्यां परस्यातो लोपः स्यात् पदान्ते। तेऽत्र, पटोऽत्र।

(४५) गवः स्वरेऽनक्षे ॥ १ । २ । ७ ।

गोशब्दस्य गव इत्यादेशो वा स्यात् अक्षवर्जिते स्वरे परे पदान्ते।

(४६) षष्ठ्यान्त्यस्य ॥ ८ । ४ । १२३ ।

सूत्रे षष्ठ्या निर्दिष्टं यत्कार्यमुच्यते तत्तस्य अन्त्यस्य वर्णस्य स्यात् न तु सर्वस्य। इत्योकारस्यैव आदेशे प्राप्ते।

(४७) शिदनेकवर्णः सर्वस्य ॥ ८।४।१२४।

शिदादेशः अनेकवर्णादेशश्च षष्ठ्या निर्दिष्टस्य सर्वस्य स्थाने स्यात्। गवाग्रम्, गवाजिनम्। पक्षे—गोऽग्रम्, गोऽजिनम्। अनक्षे इति किम्—गोऽक्षम्।

(४८) इन्द्रे ॥ १।२।८।

गोशब्दस्य गवादेशो नित्यं स्यादिन्द्रे परे। गवेन्द्रः।

(४९) एदोतोरुपसर्गस्य लोपः ॥ १।२।२६।

उपसर्गस्यावर्णस्य लोपः स्यात् धातोरेदोतोः परयोः। प्रेजते, उपोषति।

(५०) नैत्येधत्योः ॥ १।२।२७।

उपसर्गस्यावर्णस्य लोपो न स्यात् एत्येधत्योः परयोः। उपैति, उपैधते।

(५१) एवेऽनवधारणे ॥ १।२।२९।

अवर्णस्य लोपः स्यात् अनवधारणेऽर्थे एवे परे। अद्येव गच्छ। अवधारणे त्वद्यैव।

(५२) ओष्ठौत्वोः समासे वा ॥ १।२।३१।

अवर्णस्य लोपो वा स्यात् समासे ओष्ठौत्वोः परयोः। बिम्बोष्ठी, बिम्बौष्ठी, स्थूलोतुः, स्थूलौतुः

(५३) शकादीनां टेरन्ध्वादिषु ॥ १।२।११।

शकादीनां टेर्लोपः स्यात् अन्ध्वादिषु परेषु।

शकन्धुः, कर्कन्धुः, कुलटा, हलीषा, लाङ्गलीषा, मनीषा।

इति स्वर-सन्धिः

अथ प्रकृतिभावः

(५४) असंधिरदसोमुमी ॥ १।२।३५।

अदस्शब्दसम्बन्धिनौ मु, मी इत्येतौ असंधी स्याताम्। अमूमु ईचा, अमी अश्वाः।

(५५) ईदूदेद् द्विवचनं स्वरे॥ १।२।३६।

ईत् ऊत् एत् इत्येतदन्तं द्विवचनान्तं स्वरे परे असंधि स्यात्। मुनी एतौ, साधू इमौ, माले आनय, पचेते अत्र।

(५६) मणीवादीनां वा॥ १।२।३७।

मणीवादीनां द्विवचनमसंधि वा स्यात्। मणी इव, मणीव, दंपती इव, दंपतीव।

(५७) ओन्निपातः॥ १।२।३८।

ओदन्तो निपातः असंधिः स्यात्। अहो अत्र, उताहो अत्र।

(५८) धावोदितौ॥ १।२।४२।

धिविषये ओदन्तः इतौ परेऽसंधिर्वा स्यात्। साधो इति, साधविति।

इति प्रकृतिभावः

अथ हस-सन्धिः

(५९) झसा जबाः॥ २।१।१०८।

पदान्ते वर्तमाना झसा जबाः स्युः। वाक्+ईशः=वागीशः, षट्+अत्र=षडत्र।

(६०) ञमे जबा ञमा वा पदान्ते ॥ १ । ३ । १ ।

पदान्ते वर्तमाना जबा ञमे परे ञमा वा स्युः । एतन्मुरारिः, एतद् मुरारिः, वाङ् मधुरा, वाग् मधुरा । पदान्ते इति किम्—विघ्नः ।

(६१) प्रत्यये ॥ १ । ३ । २ ।

पदान्ते वर्तमाना जबा नित्यं ञमाः स्युः प्रत्यये ञमे परे । षण्णाम्, वाङ्मयम् ।

(६२) जबाद्धो झभाः ॥ १ । ३ । ४ ।

पदान्ते स्थिताज्जबात्परस्य हकारस्य झभा वा स्युः । आसन्नत्वात् यद्वर्गगो जबस्तद्वर्गगो झभः स्यात् । तद्धितम्, तद्हितम्, वाग्घरिः, वाग्हरिः ।

(६३) स्तोःश्चुभिःश्चुः ॥ १ । ३ । ५ ।

शकारचवर्गाभ्यां योगे सकारतवर्गयोः स्थाने शकारचवर्गौ स्तः । यथासंख्यमनुदेशः समानाम् । सकारस्य शकारः, तवर्गस्य चवर्गः । कश्शेते, तच्चित्रम्, भवाञ् शेते ।

(६४) शात् ॥ १ । ३ । ६ ।

शकारात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । प्रश्नः, विश्नः ।

(६५) ष्टुभिः ष्टुः ॥ १ । ३ । ६ ।

षकारटवर्गाभ्यां योगे सकारतवर्गयोः स्थाने षकारटवर्गौ स्तः । कष्षष्ठः, तट्टीकते, ईट्टे ।

(६६) न पदान्ताट्टोरनामूनवतिनगरीणाम् ॥ १ । ३ । ७ ।

पदान्ते वर्तमानाट्टवर्गात्परयोः सकारतवर्गयोः षकारटवर्गौ न स्तः ।

नाम्नवतिनगरीणां तु स्यादेव। षड् नयनम्, षट् सीदन्ति। अनाम्-नवतिनगरीणामिति किम्—षण्णाम्, षण्णवतिः, षण्णगर्यः।

(६७) तोः षि॥ १।३।८।

षकारे परे तवर्गस्य टुत्वं न स्यात्। भवान् षष्ठः।

(६८) लि लः॥ १।३।१०।

तवर्गस्य लकारे परे लकारः स्यात्। तल्लुनाति, विद्वाल्ँल्लिखति, नकारस्य सानुनासिको लकारः।

(६९) उदःस्थास्तम्भोः सः॥ १।३।६४।

उदः परयोः स्थास्तम्भोः सस्य लोपः स्यात्। उत्थानम्, उत्तम्भनम्।

(७०) आद्यन्तौ टकितौ॥ १।१।६२।

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः।

(७१) शे चञ्वा नोऽश्चे॥ १।३।२१।

नान्तस्य पदस्य शे परे चगागमो वा स्यात् न तु श्चे परे। भवाञ्च् शूरः, भवाञ् शूरः। अश्चे इति किम्—भवान् श्च्योतति।

(७२) खसे चपा झसानाम्॥ १।३।४०।

झसानां खसे परे चपाः स्युः। तत् शान्तिः, तच् शान्तिः।

(७३) चपाच्छश्छोऽमे वा॥ १।३।३।

पदान्ते वर्तमानाच्चपात् परस्य शकारस्य छो वा स्यात् अमे परे। तच्छान्तिः, वाक् शूरः, वाक् छूरः। अमे इति किम्—वाक् श्च्योतति।

(७४) ङ्णनो ह्रस्वाद् द्विः स्वरे॥ १।३।२२।

ह्रस्वात् परे पदान्ते स्थिता ङकारणकारनकारा द्विः स्युः स्वरे परे। प्रत्यङ्ङिदम्, सुगण्णिह, कुर्वन्नास्ते।

(७५) स्वरात् ॥ १ । ३ । २५ ।

स्वरात्परश्छकारो द्विः स्यात् । तवच्छत्रम्, इच्छति, ह्रीच्छति ।

(७६) अनाङ्माङो दीर्घाद् वा छः ॥ १ । ३ । २३ ।

आङ्माङ्वर्जिताद्दीर्घात् पदान्तात् परश्छकारो द्विर्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया, वधूच्छत्रम्, वधूछत्रम् । अनाङ्माङ इति किम्—आच्छादयति, माच्छिदत् । पूर्वेण नित्यमेव ।

(७७) मोऽनुस्वारयमौ हसे सवर्णौ ॥ १ । ३ । १८ ।

पदान्ते मकारस्य हसे परे अनुस्वारयमौ हसस्यैव सवर्णौ पर्यायेण स्तः । त्वं करोसि, त्वङ्करोसि, त्वं चरसि, त्वञ्चरसि, त्वं पचसि, त्वम्पचसि, संवत्सरः, सँव्वत्सरः । हसे इति किम्—किमत्र ।

(७८) सम्राट् ॥ १ । ३ । २० ।

समो मस्यानुस्वाराभावे सम्राट् इति निपात्यते । सम्राट् भरतः ।

(७९) ञां झपे ञमः सवर्णोऽपदान्ते ॥ १ । ३ । ३४ ।

अपदान्ते मकारनकारयोः स्थाने झपे परे झपस्यैव सवर्णो ञमोऽनुस्यात् । गन्ता, शङ्किता, अञ्चिता, नन्दिता, कम्पिता । झपे इति किम्—गम्यते, हन्यते । अपदान्ते इति किम्—भवान् करोति ।

(८०) हशसेऽनुस्वारः ॥ १ । ३ । ३५ ।

अपदान्ते मकारनकारयोः स्थाने हकारे शसे च परेऽनुस्वारोऽनुस्यात् । स्वनड्वां हि, यशांसि, पुंसि । अपदान्ते इति किम्—भवान् साधुः ।

(८१) नोऽप्रशानःसक् छतेऽमपरेऽनुनासिकश्च वा ॥ १ । ३ । १३ ।

अम्परे छते प्रशान्वर्जितस्य नान्तस्य पदस्य सगागमः स्यात्

तस्याऽनुनासिकश्च वा । भवँास्तनोति, भवांस्तनोति । अप्रशान इति किम्—प्रशान् तनोति ।

इति हस-सन्धिः

अथ विसर्गसन्धिः

(८२) विसर्गस्य सश्छते ॥ १ । ३ । ४४ ।

विसर्गस्य सकारादेशः स्यात् छते परे । कस्तरति, कश्चरति, कष्टीकते । छते इति किम्—कः करोति, कः पचति ।

(८३) वा शसे ॥ १ । ३ । ४५

शसे परे विसर्गस्य सो वा स्यात् । शुद्धस्साधुः, शुद्धः साधुः, पुत्रश्शेते, पुत्रःशेते ।

(८४) अतोऽत्युः ॥ १ । ३ । ४६ ।

अकारात्परस्य विसर्गस्य उकारादेशः स्यात् अकारे परे । कोऽत्र, जिनोऽर्च्यः । अत इति किम्—देवा अत्र ।

(८५) हबे ॥ १ । ३ । ५० ।

अकारात्परस्य विसर्गस्य उकारादेशः स्यात् हबे परे । जिनो वन्द्यः, धर्मो जयति ।

(८६) अवर्णभोभगोअघोभ्यो लोपः ॥ १ ३ । ५१ ।

अवर्णादिभ्यः परस्य विसर्गस्य लोपः स्यात् हबे परे । श्रमणा गच्छन्ति, भो गच्छसि, भगो हससि, अघो यासि । एते आमन्त्रणार्थाः सकारान्ता अव्ययाः । हबे इति किम्—कुमाराः क्रीडन्ति ।

(८७) यो विसर्गस्य ॥ १ । ३ । ५४ ।

अवर्णादिभ्यः परस्य विसर्गस्य यः स्यात् स्वरे परे। स्वरे वाऽसन्धिश्चेति—देवा इह, देवायिह, भो एहि, भोयेहि, भगो अत्र, भगोयत्र, अघो इहि, अघोयिहि ।

(८८) सोऽह्नः ॥ २ । १ । १०५ ।

अहन्शब्दस्य सकारोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते ।

(८९) स्रोर्विसर्गः ॥ २ । १ । १०३ ।

सकाररेफयोर्विसर्गादेशः स्यात् पदान्ते । अहो राजते, अहो रूपम् ।

(९०) रोऽरस्यादिभे ॥ २ । १ । १०६ ।

अहन्शब्दस्य रेफोऽन्तादेशः स्यात् रेफस्यादिभवर्जिते परे पदान्ते । स्रोर्विसर्ग इति विसर्गे ।

(९१) रः ॥ १ । ३ । ५६ ।

रेफप्रकृतिकस्य विसर्गस्य रेफः स्यात् अबे परे । अहरहः, अहर्गणः, अहर्भवः, प्रातरत्र, अन्तर्गतः । रेफप्रकृतिकस्येति किम्—देवो गतः ।

(९२) वाऽहर्पत्यादयः ॥ १ । ३ । ५७ ।

अहर्पत्यादयः शब्दाः कृतरकारान्ता वा निपात्यन्ते । अहर्पतिः, अहः पतिः, गीर्पतिः, गीः पतिः, धूर्पतिः, धूः पतिः ।

(९३) नामिनो रोऽबे ॥ १ । ३ । ५५ ।

नामिनः परस्य विसर्गस्य रेफः स्यात् अबे परे । मुनिरत्र, साधुर्वदति । नामिन इति किम्—चैत्रो गच्छति । अबे इति किम्—मुनिः शेते ।

(६४) रो रि लोपो दीर्घश्चादिदुतः ॥ १ । ३ । ३६ ।

रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् अकारेकारोकाराणां दीर्घश्च । पुना रमते, प्राता रौति, नीरक्तम्, दूरक्तम् ।

(६५) सैषाद्धसे लोपः ॥ १ । ३ । ६० ।

सैषाभ्यां परस्य विसर्गस्य लोपः स्यात् हसे परे । स याति, एष गच्छति । हसे इति किम्—सोऽत्र ।

(६६) नागन्ञ्समासे ॥ १ । ३ । ६१ ।

अकि नञ्समासे च सैषाभ्यां परस्य विसर्गस्य लोपो न स्यात् हसे परे । सको राजा, एषको मन्त्री, असो याति, अनेषो गच्छति ।

(६७) तदः सेः स्वरे पादपूरणं चेत् ॥ १ । ३ । ६५ ।

तदः परस्य सेर्लोपः स्यात् स्वरे परे पादश्चेल्लोपे पूर्येत ।

सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः ॥ १ ॥

पादपूरणं चेदिति किम्—स एष भरतो राजा ।

सन्धिरेकपदे नित्यो, नित्यो धातूपसर्गयोः ।
नित्यः समासे वाक्ये तु, स विवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥

इति सन्धि-प्रकरणे विसर्ग-सन्धिः

इति सन्धि-प्रकरणम् ।

स्यादि-प्रकरणम्

अथ स्वरान्ताः पुल्लिँङ्गाः

(९८) अर्थवदधातुविभक्तिवाक्यं नाम ॥ १ । १ । ३१ ।

धातुविभक्तिवाक्यवर्जितम् अर्थवच्छब्दरूपं नामसंज्ञं स्यात् । नाम्नः पराः स्यादयः सप्त विभक्तयः स्युः ।

(९९) सि औ जस्-अम् औ शस्-टा भ्यां भिस्-ङे भ्यां भ्यस्-ङसि भ्यां भ्यस्-ङस् ओस् आम्-ङि ओस् सुपां त्रीणि त्रीणि प्रथमादिः ॥ १ । ४ । १ ।

स्यादीनां त्रीणि त्रीणि वचनानि यथासंख्यं प्रथमादिसंज्ञानि स्युः ।

(१००) एकद्विबहुषु ॥ १ । ४ । २ ।

स्यादीनां त्रीणि त्रीणि वचनान्युक्तानि, तान्येकत्वद्वित्वबहुत्वेष्वर्थेषु यथाक्रमं स्युः । तत्र प्रथमाया एकवचने—जिन+सि इति स्थिते, इकार उच्चारणार्थः, स्रोर्विसर्गः, जिनः । द्विवचने—जिन+जिन+औ इति स्थिते ।

(१०१) स्यादावसंख्येयः ॥ ३ । १ । १३५ ।

सर्वस्मिन् स्यादौ समानानां तुल्यरूपाणां सहोक्तौ गम्यमानायाम्

एकशेषः स्यात् संख्येयवाचिशब्दरूपं वर्जयित्वा। जिनौ। असंख्येय इति किम्—एकश्च एकश्च। बहुवचने—जसो जकार एदोज्जसीति विशेषणार्थः।

(१०२) अदेतोरपदान्तेऽतः ॥ २।१।३१।

अपदान्ते स्थितस्य अकारस्य लोपः स्यादकारे एकारे च परे। इति अकारस्य लोपे प्राप्ते।

(१०३) अतो जस्भ्यांये ॥ १।४।८।

नाम्नोऽकारस्य आकारादेशः स्यात् जस्, भ्याम्, य इत्येतेषु परेषु। जिनाः।

(१०४) समानादमः ॥ १।४।७१।

समानात् परस्यामोऽकारस्य लोपः स्यात्। जिनम्, जिनौ। शसः शकारः शसोऽतेति विशेषणार्थः।

(१०५) शसोऽता दीर्घः सश्च नः पुंसि ॥ १।४।७२।

शसोऽकारेण सह समानस्य दीर्घः स्यात् तत्सन्नियोगे पुल्लिँङ्गविषये शसः सकारस्य नकारादेशश्च। जिनान्।

(१०६) टेनः ॥ १।४।१५।

अकारात्परष्टा इनः स्यात्। जिनेन, जिनाभ्याम्।

(१०७) भिस् ऐस् ॥ १।४।६।

अकारात्परस्य भिस ऐसादेशः स्यात्। अनेकवर्णत्वात् सर्वस्य। जिनैः।

(१०८) ङेर्यः ॥ १।४।१६।

अकारात्परो ङेर्यः स्यात्। जिनाय, जिनाभ्याम्।

(१०९) एर्बहुस्भे ॥ १ । ४ ११ ।

अकारस्य एकारः स्यात् बह्वर्थे सकारे भकारे च परे । जिनेभ्यः ।

(११०) ङसिराद् ॥ १ । ४ । १३ ।

अकारात्परो ङसिराद् स्यात् । जिनाद् ।

(१११) वावसाने ॥ १ । ३ । ४१ ।

अवसाने झथानां चपा वा स्युः । जिनात्, जिनाभ्याम्, जिनेभ्यः ।

(११२) ङस् स्यः ॥ १ । ४ । १४ ।

अकारात्परो ङस् स्यः स्यात् । जिनस्य ।

(११३) ओसि ॥ १ ।४ । १२ ।

अकारस्य ओसि परे एत्वं स्यात् । जिनयोः ।

(११४) ह्रस्वापश्च ॥ १ । ४ । ३७ ।

ह्रस्वान्तादाबन्तान्नित्यस्त्रीदूदन्ताच्च परस्यामो नुडागमः स्यात् ।

(११५) नुट्यतिसृचतसृः ॥ १ । ४ । ७३ ।

नुटि परे समानस्य दीर्घः स्यात् तिसृचतसृशब्दौ वर्जयित्वा । जिनानाम्, जिने, जिनयोः । सुपः पकारो न रः सुपीति विशेषणार्थं ।

(११६) किलादेकपदेऽपदान्ते कृतस्य सस्य ॥ २ । २ १४ ।

कवर्गादिलाच्च परस्याऽपदान्ते वर्तमानस्य कृतस्य सस्य षः स्यादेकपदे । जिनेषु ।

(११७) सिधिरामन्त्रणे ॥ १ । १ । ५६ ।

आमन्त्रणेऽर्थे सिधिसंज्ञः स्यात् ।

(११८) अदेतोध्यमोर्लोपः ॥ १ । ४ । ६९ ।

अकारान्तादेकारान्ताच्च परस्य धेस्तदादेशस्यामश्च लोपः स्यात् ।

हे जिन, हे जिनौ, हे जिनाः। एवं वीररामकृष्णदेवादयः। सर्वादीनां तु विशेषः। सर्व, विश्व, उभ, उभयट्, अन्य, अन्यतर, इतर, डतर, डतम, त्वत्, त्व, नेम, समसिमौ सर्वार्थौ, पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि दिग्देशकालेषु, स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्, अन्तरमपुरिबहिर्योगे परिधाने च, त्यद्, तद् यद् अदस्, इदम् एतद्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम् इत्यसंज्ञायां सर्वादिः। एते सर्वादयस्त्रिलिङ्गाः। सर्वः, सर्वौ।

(११९) जस इश्॥ १।४।१९।

सर्वादेरकारान्तसम्बन्धिनो जस इश् स्यात्। शकारः सर्वादेशार्थः। सर्वे, सर्वम्, सर्वौ, सर्वान्।

(१२०) एकपदे रषृवर्णान्नो णोऽपदान्ते॥ २।२।६९।

रेफषकारऋवर्णेभ्यः परस्य नस्य णः स्यादेकपदे न तु पदान्ते।

(१२१) अवकुप्वनुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयैरन्तरेऽपि॥ २।२।७०।

इत्येतैर्व्यवधानेऽपि रेफषकारऋवर्णेभ्यः परस्य नस्य णः स्यात्। सर्वेण, सर्वाभ्याम्, सर्वैः।

(१२२) सर्वादेः स्मैः॥ १।४।१७।

सर्वादेरकारान्तसम्बन्धिङेः स्मैः स्यात्। सर्वस्मै, सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः।

(१२३) ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ॥ १।४।१८।

सर्वादेरकारान्तसम्बन्धिनोर्ङसिङ्योर्यथासंख्यं स्मात्स्मिनौ स्तः। सर्वस्मात्, सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः, सर्वस्य, सर्वयोः।

(१२४) अवर्णस्यामः सुट् ॥ १ । ३ । २३ ।

अवर्णान्तसर्वादेः सम्बन्धिन आमः सुडागमः स्यात् । सर्वेषाम्, सर्वस्मिन्, सर्वयोः, सर्वेषु, हे सर्व, हे सर्वौ, हे सर्वे । असंज्ञायामिति किम्—सर्वो नाम कश्चित्, तस्मै सर्वाय । एवं विश्वादयोऽप्यकारान्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उभौ, उभौ, उभाभ्याम् उभाभ्याम्, उभाभ्याम्, उभयोः, उभयोः । डतरडतमौ प्रत्ययौ, तदन्ताः शब्दा ग्राह्याः । कतरः, कतरौ, कतरे, कतमः, कतमौ, कतमे ।

(१२५) पूर्वादिभ्यो नवभ्यः इश्स्मात्स्मिनः ॥ १ । ४ । २२ ।

पूर्वादिभ्यो नवभ्यः यथास्थानमुक्ता इश्स्मात्स्मिन इत्यादेशा वा स्युः । पूर्वे, पूर्वाः, पूर्वस्मात्, पूर्वात्, पूर्वस्मिन्, पूर्वे । शेषं सर्ववत् । एवं परादयः ।

(१२६) द्वन्द्वे न सर्वादिः ॥ १ । ४ । २४ ।

द्वन्द्वसमासे सर्वादीनां सर्वादिसंज्ञा न स्यात् । पूर्वपराय, पूर्वपराधराणाम् ।

(१२७) द्वन्द्वे ॥ १ । ४ । २१ ।

द्वन्द्वसमासे सर्वादेरकारान्तसम्बन्धिनो जस इश् वा स्यात् । पूर्वापरे, पूर्वापराः, वर्णाश्रमेतरे, वर्णाश्रमेतराः ।

(१२८) नेमाल्पप्रथमचरमतयडयडर्धकतिपयानां वा ॥ १ । ४ । २० ।

एषां जस इश्वा स्यात् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् । अल्पे, अल्पाः । शेषं जिनवत् । तयडयटौ प्रत्ययौ, तदन्ताः शब्दा ग्राह्याः । द्वितये, द्वितयाः, द्वये, द्वयाः ।

(१२६) ङिति तीयस्य वा ॥ १ । ४ । २६ ।

तीयप्रत्ययान्तस्य ङिति परे सर्वादिसंज्ञा वा स्यात् । द्वितीयस्मै, द्वितीयाय, द्वितीयस्मात्, द्वितीयात्, द्वितीयस्मिन्, द्वितीये । शेषं जिनवत् ।

(१३०) मासनिशासनस्य शसादौ वा लोपः ॥ २ । १ २३ ।

एषामन्त्यस्य लोपो वा स्यात् शसादौ । मासः मासाः ।

(१३१) नाम सिदयहसे ॥ । १ । १ । २३ ।

सिति यकारवर्जिते हसादौ च प्रत्यये परे पूर्वं नाम पदसंज्ञं स्यात् । माभ्याम्, माभिः, मासे, माभ्याम्, माभ्यः, मासः, माभ्याम्, माभ्यः, मासः, मासोः, मासाम्, मासि, मासोः, मास्सु । पक्षे जिनवत् ।

(१३२) शिस्थुट् ॥ १ । १ । ५४ ।

जस्शसादेशः शिस्थुट्संज्ञकः स्यात् ।

(१३३) पुंस्त्रियोः स्यमौजस् ॥ १ । १ । ५५ ।

पुल्लिँङ्गे स्त्रीलिङ्गे च सि, औ, जस्, अम्, औ इत्येते प्रत्ययास्थुट्संज्ञकाः स्युः ।

(१३४) अनोऽतोऽवमयुक्तात् ॥ २ । १ । २८ ।

वकारमकारान्तसंयोगवर्जितात् परस्य अनोऽतो लोपः स्यात् ईपि थुड्वर्जिते स्यादिस्वरे च परे । आस्नः, आस्ना ।

(१३५) नाम्नो नोऽनह्नः ॥ २ । १ । १२१ ।

अहन्शब्दवर्जितस्य नाम्नो नस्य लोपः स्यात् पदान्ते, स च स्यादिविधावसिद्धः । आसभ्याम्, आसभिः । न लोपस्याऽसिद्धत्वान्न स्यादिकार्यम् ।

(१३६) वेङ्योः ॥ २ । १ । २६ ।

वकारमकारान्तसंयोगवर्जितात् परस्यानोऽतो लोपो वा स्यात् ई, ङि इत्येतयोः परयोः । आस्नि, आसनि ।

(१३७) पाददन्तनासिकाहृदयासृग्यूषोदकदोर्यकृच्छकृत्पृतनासानूनां पद्दन्नोहृदसन्यूषन्नुदन्दोषन्यकन्शकन्पृतस्नवः ॥ २ । १ । २४ ।

पादादीनां यथासंख्यं पदादय आदेशा वा स्युः शसादौ पादस्य—पद् । पदः, पदा, पद्भ्याम्, पद्भिः, पत्सु । दन्तस्य—दत् । दतः, दता । यूषस्य—यूषन् । अवकुप्वनुस्वारेति णत्वे ।

(१३८) णषमसिद्धं परे स्यादिविधौ च ॥ २ । १ । ६१ ।

इतः परकार्ये कर्तव्ये पूर्वस्मिंश्च स्यादिविधौ विधातव्ये णकारषकारौ असिद्धौ स्याताम् । इति णत्वस्याऽसिद्धत्वादनोऽतोऽवमगुक्तादित्यकारलोपः । यूष्णः, यूष्णा, यूषभिः । पक्षे जिनवत् । पदादयः पृथक्शब्दा इत्येके । सोमपाः, सोमपौ, सोमपाः, सोमपाम्, सोमपौ ।

(१३९) आतोऽनापो लोपः स्वरे ॥ २ । १ । २५ ।

आब्वर्जितस्य आकारस्य लोपः स्यात् शसादौ स्वरे परे । सोमपः, सोमपा, सोमपाभ्यामित्यादि । एवं विश्वपा, शङ्खध्मा, हाहा इत्यादयः । मुनिः ।

(१४०) इदुतोऽस्त्रेरौरीदूत् ॥ १ । ४ । ४१ ।

इदुद्भ्यां पर औः ईदूतौ स्तः स्त्रिशब्दं वर्जयित्वा । मुनी । अस्त्रेः इति किम्—सुस्त्रियौ पुरुषौ ।

(१४१) एदोज्जसि ॥ १ । ४ । ४३ ।

इदुतोरेदोतौ स्तः जसि परे । मुनयः । मुनिम्, मुनी, मुनीन् ।

(१४२) टा नाः पुंसिः ॥ १ । ४ । ४२ ।

इदुद्भ्यां परष्टा नाः स्यात् पुल्लिँङ्गविषये । मुनिना । मुनिभ्याम्, मुनिभिः ।

(१४३) ङित्यदिति ॥ १ । ४ । ४४ ।

इदुतोरेदोतौ स्तः अदिति ङिति परे । मुनये । मुनिभ्याम् । मुनिभ्यः ।

(१४४) एदोतो ङसिङसोरतः ॥ १ । ४ । ७० ।

एदोद्भ्यां परस्य ङसिङसोरकारस्य लोपः स्यात् । मुनेः । मुनिभ्याम्, मुनिभ्यः, मुनेः, मुन्योः, मुनीनाम् ।

(१४५) ङेर्डौः ॥ १ । ४ । ४५ ।

इदुद्भ्यां परस्य ङेर्डौः स्यात् ।

(१४६) डिति टेः ॥ ८ । ४ । ८४ ।

डिति परे टेर्लोपः स्यात् । मुनौ । मुन्योः, मुनिषु ।

(१४७) ह्रस्वस्य गुणो धिना ॥ १ । ४ । ३६ ।

ह्रस्वस्य धिना सह गुणः स्यात् । हे मुने, हे मुनी, हे मुनयः । एवमग्निगिरिरविकविप्रभृतयः ।

(१४८) ॠदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसश्च सेरधेर्डाः ॥ १ । ४ । ८६ ।

ॠकारान्तात् उशनस्, पुरुदंशस्, अनेहस् इत्येतेभ्यः इकारान्तात् सखिशब्दाच्च परस्य धिवर्जितस्य सेर्डाः स्यात् । सखा ।

(१४९) ऐः सख्युरितोऽशि धौ ॥ १ । ४ । ८५ ।

इकारान्तस्य सखिशब्दस्य शिवर्जिते धिवर्जिते च घुटि परे

ऐकारादेशः स्यात् । सखायौ, सखायः । हे सखे, हे सखायौ, हे सखायः, सखायम्, सखायौ, सखीन् । टा नाः पुंसीति प्राप्ते ।

(१५०) न टा नाः ॥ १ । ४ । ४८ ।

इदन्ताभ्यां केवलसखिपतिभ्यां परष्टा ना न स्यात् । सख्या । ङित्यदितीति प्राप्ते ।

(१५१) ङित्येत् ॥ १ । ४ । ४९ ।

इदन्तयोः केवलसखिपत्योर्ङिति परे एकारो न स्यात् । सख्ये । ङसि इवर्णस्य यत्वे कृते ।

(१५२) खितिखीतीयाद् ङसिङसोरत उः ॥ १ । ४ । ५० ।

खितिखीतीसम्बन्धिनो यकारात्परयोर्ङसिङसोरकारस्य उकारः स्यात् । सख्युः, सख्युः ।

(१५३) केवलसखिपतेरौः ॥ १ । ४ । ४७ ।

इदन्ताभ्यां केवलसखिपतिभ्यां परस्य ङेरौः स्यात् । सख्यौ । शेषं मुनिवत् । पतिः पती, पतयः, पत्या, पत्ये, पत्युः २, पत्यौ । केवलेति विशेषणात् समासे तु मुनिवत् । भूपतिः, भूपती, भूपतयः इत्यादि । एवं सुसखा, सुसखायौ, सुसखायः, सुसखायम्, सुसखायौ । शेषं मुनिवत् ।

(१५४) आद्वेष्टेरः ॥ २ । १ । ७७ ।

द्विपर्यन्तानां त्यदादीनां टेरकारादेशः स्यात् स्यादौ परे । द्वौ, द्वौ, द्वाभ्याम् ३, द्वयोः २ । त्रयः, त्रीन्, त्रिभिः, त्रिभ्यः २ ।

(१५५) संख्यायास्त्रेस्त्रयो नुटि ॥ १ । ४ । ३ ।

संख्यावाचित्रिशब्दस्य त्रयः इत्यादेशः स्यात् नुटि परे । त्रयाणाम्, त्रिषु । कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।

(१५६) जसूशसोर्डतिष्णो लुक् ॥ १ । ४ । ४ ।

डतिप्रत्ययान्तात् षकारान्तात् नकारान्ताच्च संख्यावाचिनः परयोर्जसशसोर्लुक् स्यात् । लोपेनैव सिद्धे लुग्विधानं स्थानिवद्भावबाधनार्थम् । तेन एदोज्जसीति एत्वं न । कति, कति, कतिभिः, कतिभ्यः, कतिभ्यः, कतीनाम्, कतिषु । नयतीति नियःक्विपि—क्विबन्ताः शब्दा धातुत्वं नोज्झन्ति नामत्वं च प्रतिपद्यन्ते । नीः ।

(१५७) धातोरिवर्णोवर्णयोरियुवौ स्वरे प्रत्यये ॥ २ । १ । १३ ।

धातोरिवर्णोवर्णयोः स्वरादौ प्रत्यये परे इयुवौ स्तः । नियौ, नियः, नियम्, नियः, निया, निये, नियः २ ।

(१५८) निय आम् ॥ १ । ४ । ४६ ।

नीशब्दात्परस्य ङेरामादेशः स्यात् । नियाम् । सेनानीः ।

(१५९) क्विप्समासस्याऽसुधियस्तौ ॥ २ । १ । २१ ।

क्विप्प्रत्ययान्तेनैव यः समासस्तत्सम्बन्धिनो धातोरिवर्णोवर्णयोः स्थाने तौ यकारवकारौ इयुवोरपवादौ स्तः स्वरादौ स्यादौ परे न तु सुधियः । सेनान्यौ, सेनान्यः । क्विप्समासस्येति किम्—परमनियौ, परमनियः । असुधिय इति किम्—सुधियौ, सुधियः । एवं ग्रामणीप्रभृतयः । यवक्रीः ।

(१६०) संयोगात् ॥ २ । १ । १५ ।

धातोरेव संयोगात्परयोर्धातोरिवर्णोवर्णयोरियुवौ य्वोरपवादौ स्तः स्वरादौ प्रत्यये परे । यवक्रियौ, यवक्रियः इत्यादि । धातोरेव संयोगविशेषणान्नेह—उन्न्यौ, उन्न्यः । साधुः, साधू, साधवः, साधुम्, साधू, साधून्, साधुना, साधुभ्याम्, साधुभिः, साधवे, साधोः २, साध्वोः,

साधूनाम्, साधौ, साधुषु, हे साधो । एवं भिक्षुभानुविष्णुवायुप्रभृतयः ।

(१६१) क्रोष्टुस्तृजवत् पुंस्यधौ ॥ १ । ४ । ८७ ।

क्रोष्टुशब्दस्य तृच्प्रत्ययान्तवद्रूपं स्यात् धिवर्जिते घुटि परे पुल्लिँङ्ग-विषये । ऋदुशनसिति सेर्डाः । क्रोष्टा ।

(१६२) तृस्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणामार् ॥ १ । ४ । ५४ ।

तृच्तृन्प्रत्ययान्तस्य स्वस्रादीनां च ऋकारस्य आर् स्यात् घुटि परे । क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टून् ।

(१६३) टादौ स्वरे वा ॥ १ । ४ । ८८ ।

क्रोष्टुशब्दस्य तृज्वद्रूपं वा स्यात् स्वरादौ टादौ परे पुंसि । क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना, क्रोष्टुभ्याम्, क्रोष्टुभिः, क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे ।

(१६४) ऋतो डुः ॥ १ । ४ । ५१ ।

ऋदन्तात्परस्य ङसिङसोरकारस्य डुः स्यात् । क्रोष्टुः २, क्रोष्टोः २, क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः । कृताकृतप्रसङ्गी नित्यः, नित्यत्वात् पूर्वमेव नुटि कृते—क्रोष्टूनाम् ।

(१६५) अर्ङौ ॥ १ । ४ । ५२ ।

ऋकारस्य अर् स्यात् ङौ परे । क्रोष्टरि, क्रोष्टौ, क्रोष्टुषु । धौ तृज्वद्भावाऽभावात्—हे क्रोष्टो, हे क्रोष्टारौ, हे क्रोष्टारः । खलपूः, खलप्वौ, खलप्वः, सेनानीवत् । एवमुल्लूसुल्वादयः । वर्षाभूः ।

(१६६) वर्षापुनर्दृन्काराद्भुवः ॥ २ । १ । २२ ।

वर्षादिभ्यः परस्यैव भुव उकारस्य वकारः स्यात् नान्येभ्यः स्वरादौ स्यादौ परे । वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्वः । एवं पुनर्भ्वौ, पुनर्भ्वः । वर्षादिभ्य

एवेति नियमान्नेह—स्वयंभुवौ, स्वयंभुवः। पिता।

(१६७) थुटि ॥ १ । ४ । ५३ ।

ऋकारस्य अर् स्यात् थुटि परे। पितरौ, पितरः, पितरम्, पितॄन्, पित्रा, पित्रे, पितुः, २, पित्रोः २, पितॄणाम्, पितरि, पितृषु, हे पितः। एवं जामातृभ्रात्रादयः। ना, नरौ, नरः।

(१६८) नुर्वा ॥ १ । ४ । ७४ ।

नृशब्दस्य दीर्घो वा स्यान्नुटि परे। नॄणाम्, नृणाम्। कर्ता। तृस्वस्त्रिति आर्। कर्तारौ, कर्तारः। एवं नप्त्रादयः।

(१६९) रायो हसे ॥ १ । ४ । ७ ।

रैशब्दस्य आकारोऽन्तादेशः स्यात् हसादौ स्यादौ परे। राः, रायौ, रायः, राभ्याम्, रासु।

(१७०) ओत औः ॥ १ । ४ । ८३ ।

ओकारस्य औकारः स्यात् थुटि परे। गौः, गावौ, गावः।

(१७१) आ अम्शसोऽता ॥ १ । ४ । ८४ ।

ओकारस्य अम्शसोऽकारेण सह आः स्यात्। गाम्, गावौ, गाः, गवा, गवे, गोः २, गवोः, गवाम्, गवि, गोषु। ग्लौः, ग्लावौ, ग्लावः इत्यादि।

इति स्वरान्ताः पुल्लिँङ्गाः।

अथ स्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः

(१७२) आपः ॥ १ । ४ । २८ ।

आबन्तात् परस्य सेर्लोपः स्यात्। सीता।

(१७३) औरिः ॥ १ । ४ । ३२ ।

आबन्तात्पर औः इः स्यात् । सीते, सीताः, सीताम्, सीते, सीताः ।

(१७४) एर्धिटौस्सु ॥ १ । ४ । ३१ ।

आबन्तस्य एः स्यात् धि, टा, ओस् इत्येतेषु परेषु । सीतया, सीताभ्याम्, सीताभिः ।

(१७५) ङितां यैयास्यास्यामः ॥ १ । ४ । २६ ।

आबन्तात्परेषां ङितां स्थाने यै, यास्, यास्, याम् इत्येते आदेशाः स्युः । सीतायै, सीतायाः २, सीतयोः २, सीतानाम्, सीतायाम्, सीतासु, हे सीते, हे सीते, हे सीताः । एवं सुभद्रागङ्गाशालामालारमाश्रद्धामेधादुर्गादयः ।

(१७६) नित्यदिद्द्विस्वराऽम्बार्थानां ह्रस्वः ॥ १ । ४ । ४० ।

नित्यं दैदासादय आदेशा येभ्यस्तेषां द्विस्वराऽम्बार्थानां च धिना सह ह्रस्वः स्यात् । हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल । शेषं सीतावत् । सर्वा, सर्वे, सर्वाः । ङिति यै इत्याद्यादेशेषु कृतेषु ।

(१७७) सर्वादेर्यस्य सुडापोऽच ॥ १ । ४ । ३० ।

सर्वादिसम्बन्धिन आबन्तात् परस्य ङितां यकारस्य सुडागमः स्यात् तद्योगे आपोऽकारादेशश्च । सर्वस्यै, सर्वस्याः २, सर्वासाम्, सर्वस्याम् । शेषं सीतावत् । एवं विश्वादयोऽप्याबन्ताः । ङिति तीयस्य वेति— द्वितीयस्यै, द्वितीयायै, द्वितीयस्याः २, द्वितीयायाः २, द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम् । शेषं सीतावत् । जरा ।

(१७८) जराया जरस्वा ॥ २ । १ । ८६ ।

जराशब्दस्य जरस् इत्यादेशो वा स्यात् स्वरादौ स्यादौ परे। जरसौ, जरे, जरसः, जराः, जरसम्, जराम्, जरसा, जरया इत्यादि। निशा, निशे, निशाः, निशाम्, निशे, शसादौ वान्तलोपे निशः, निशाः, निशा, निशया।

(१७९) शराज्भ्राज्यज्सृज्मृज्भ्रस्ज्व्रश्च्परिव्राजां षः ॥२।१।११७।

शान्तस्य राजादीनां च षोऽन्तादेशः स्यात् झसे पदान्ते च। षस्य झसा जबा इति डत्वे—निड्भ्याम्, निड्भिः, निट्सु। पक्षे सीतावत्। नासिकायाः—नस्। नसः, नासिकाः, नसा, नासिकया, नोभ्याम्, नासिकाभ्याम्। पृतनायाः—पृत्। पृतः, पृता, पृद्भ्याम्, पृत्सु। बुद्धिः, बुद्धी, बुद्धयः, बुद्धिम्, बुद्धी, बुद्धीः, बुद्ध्या, बुद्धिभ्याम्, बुद्धिभिः।

(१८०) स्त्रीदुद्भ्यां ङितां दैदास्दास्दामो वा ॥ १ । ४ । ३३ ।

स्त्रीलिङ्गाभ्यामिदुद्भ्यां परेषां ङितां स्थाने दै, दास्, दास्, दाम् इत्येते आदेशा वा स्युः। दकारो ङित्यदितीति विशेषणार्थः। बुद्ध्यै, बुद्धये, बुद्ध्याः २, बुद्धेः २, बुद्धीनाम्, बुद्ध्याम्, बुद्धौ, बुद्ध्योः, बुद्धिषु, हे बुद्धे, हे बुद्धी, हे बुद्धयः। एवं मतिधृतिकीर्तिकान्तिप्रभृतयः। द्वेरत्त्वे सत्याप्। द्वे, द्वे, द्वाभ्याम् ३, द्वयोः २।

(१८१) त्रिचतुरः स्त्रियां तिसृचतसृ स्यादौ ॥ २ । १ । ८७ ।

स्त्रियां वर्तमानयोस्त्रिचतुरोः तिसृ, चतसृ इत्यादेशौ स्तः स्यादौ परे।

(१८२) ऋतो रः स्वरेऽनि ॥ २ । १ । ८८ ।

तिसृ, चतसृ इत्येतयोः ऋतो रेफादेशः स्यात् स्यादौ स्वरे परे नका-

रविषयादन्यत्र। तिस्रः २, तिसृभिः, तिसृभ्यः २, तिसृषु। अनीति किम्—तिसृणाम्।

(१८३) हसेपः सेर्लोपः ॥ १ । ४ । २७ ।

हसान्तादीबन्ताच्च परस्य सेर्लोपः स्यात्। नदी, नद्यौ, नद्यः, नदीम्, नदीः, नद्या, नदीभ्याम्, नदीभिः।

(१८४) नित्यस्त्रीदूतः ॥ १ । ३ । ३४ ।

नित्यस्त्रीलिङ्गाभ्यामीदूद्भ्यां परेषां ङितां स्थाने दै, दास्, दास्, दाम् इत्येते आदेशाः स्युः। नद्यै, नद्याः२, नद्योः, नदीनाम्, नद्याम्, हे नदि।

(१८५) स्त्रियाम् ॥ १ । ४ । ८६ ।

स्त्रियां वर्तमानः क्रोष्टुशब्दस्तृजवत् स्यात्। ऋकारान्तत्वात् नृतो स्वस्रादेरिति वक्ष्यमाणसूत्रेण ईप्। क्रोष्ट्री, क्रोष्ट्र्यौ। एवं कुमारीगौरी बहुश्रेयस्यादयः। स्त्री।

(१८६) स्त्रियाः ॥ २ । १ । १७ ।

स्त्रीशब्दस्येवर्णस्य इयादेशः स्यात् स्वरादौ प्रत्यये परे। स्त्रियौ, स्त्रियः।

(१८७) वाम् शसि ॥ २ । १ । १८ ।

स्त्रीशब्दस्येवर्णस्य इयादेशो वा स्यात् अमि शसि च परे। स्त्रियम्, स्त्रीम्, स्त्रियः, स्त्रीः, स्त्रिया, स्त्रियै, स्त्रियाः २, स्त्रियोः २। आमि तु इयः प्रागेव नुट्। स्त्रीणाम्, स्त्रियाम्, स्त्रीषु, हे स्त्रि। इतीबन्ताः। लक्ष्मीशब्दस्य अनीबन्तत्वान्न सिलोपः। लक्ष्मीः। शेषं नदीवत्।

अवीलक्ष्मीतरीतन्त्री - श्रीह्रीधीनामुणादितः।

अपि स्त्रीलिङ्गवृत्तीनां, सिलोपो न कदाचन ॥ १ ॥

श्रीः, श्रियौ, श्रियः, श्रियम्, श्रियः ।

(१८८) वेयुवोऽस्त्रियाः ॥ १ । ४ । ३५ ।

इयुव्स्थानिनौ यौ नित्यस्त्रीलिङ्गस्य ईदूतौ तदन्तात् परेषां ङितां स्थाने दै, दास्, दास्, दाम् इत्येते आदेशा वा स्युः स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । श्रियै, श्रिये, श्रियाः, श्रियः, श्रियाः, श्रियः ।

(१८९) नुडामः ॥ १ । ४ । ३६ ।

इयुव्स्थानिनौ यौ नित्यस्त्रीलिङ्गस्य ईदूतौ तदन्तात् परस्यामो नुट् वा स्यात् स्त्रीशब्दं वर्जयित्वा । श्रीणाम्, श्रियाम्, श्रियि, श्रियाम्, हे श्रीः । एवं सुश्रीह्रीधीप्रभृतयः । सुधीः, सुधियौ, सुधियः । धेनुर्बुद्धिवत् । धेनुः, धेनू, धेनवः, हे धेनो । एवं चञ्चूरज्जुप्रभृतयः । भ्रूः ।

(१९०) नुभ्रुवोः ॥ २ । १ । १९ ।

संयोगात्परस्य नुप्रत्ययस्य भ्रूशब्दस्य चोवर्णस्य उवादेशः स्यात् स्वरादौ प्रत्यये परे । भ्रुवौ, भ्रुवः । शेषं श्रीवत् साध्यम् । स्वयंभूः पुंवत् । वधूजम्ब्वादयो नदीवत् । खलपूः पुंवत् । स्वस्रादिभ्यो नेप् । स्वसा, स्वसारौ । शसि — स्वसॄः । शेषं कर्तृवत् । माता, मातरौ । शसि—मातॄः । शेषं पितृवत् । रैः पुंवत् । नौर्ग्लौवत् ।

इति स्वरान्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

अथ स्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः

(१९१) अतोऽम् ॥ २ । १ । ४ ।

अकारान्तनपुंसकसम्बन्धिनोः स्यमोरमादेशः स्यात् । रत्नम् ।

(१६२) ईरौः ॥ २ । १ । ६ ।

नपुंसकसम्बन्धी औः ईः स्यात् । रत्ने ।

(१६३) जस्शसोः शिः ॥ २ । १ । ७ ।

नपुंसकसम्बन्धिनोर्जस्शसोः शिः स्यात् ।

(१६४) नुम् ह्झसातः शौ ॥ २ । १ । ८ ।

ह्कारान्तस्य झसान्तस्य अकारान्तस्य च नपुंसकस्य नुमागमः स्यात् शौ परे ।

(१६५) मिदन्त्यस्वरात्परः ॥ १ । १ । ६३ ।

मिदागमः प्रत्ययो वा अन्त्यस्वरात्परः स्यात् ।

(१६६) नोपधाया नुटि चाधौ दीर्घः ॥ १ । ४ । ६३ ।

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नुटि धिवर्जिते थुटि च परे । रत्नानि, पुनरपि रत्नम्, रत्ने, रत्नानि । शेषं जिनवत् । एवं धनवनमूलफलकमलादयः । सर्वम्, सर्वे, सर्वाणि । पुनस्तद्वत् । हे सर्व, हे सर्वे, हे सर्वाणि । शेषं पुंवत् । एवं विश्वादयोऽकारान्ताः ।

(१६७) दुशन्यादेरनेकतरस्य पञ्चकस्य ॥ २ । १ । ५ ।

नपुंसकानामन्यान्यतरेतरडतरडतमानां पञ्चकानां स्यमोर्दुशादेशः स्यात् एकतरं वर्जयित्वा । उकार उच्चारणार्थः । अन्यद्, अन्यत्, अन्ये, अन्यानि । सम्बोधने तु ध्यादेशस्य अम एव लोपत्वात् दुशो लोपो न । हे अन्यद् । अनेकतरस्येति किम्—एकतरम् । शेषं सर्ववत् ।

(१६८) नपुंसके ॥ २ । ३ । ११३ ।

नपुंसके वर्तमानस्य नाम्नो ह्रस्वः स्यात् । सोमपम्, सोमपे, सोमपानि ।

(१९९) नपुंसकस्य स्यमोर्लुक् ॥ २ । १ । १ ।

नपुंसकस्य स्यमोर्लुक् स्यात् । वारि ।

(२००) नामिनः स्वरेऽनामि ॥ २ । १ । १० ।

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य नुमागमः स्यात् आम्वर्जिते स्वरे परे । वारिणी, वारीणि, पुनस्तद्वत् । वारिणा, वारिणे, वारिणः २, वारिणोः २, वारीणाम्, वारिणि, वारिषु ।

(२०१) नामिनो लोपः ॥ २ । १ । ३ ।

नाम्यन्तस्य नपुंसकस्य स्यमोर्लोपो वा स्यात् । लोपे स्थानिवद्भावात् '**ह्रस्वस्य गुणो धिने**'ति गुणः । हे वारे । पक्षे लुक्, लुकि न स्थानिवद्भावः । हे वारि, हे वारिणी, हे वारीणि । हसादौ तु मुनिवत् रूपाणि ।

(२०२) अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णां टादौ ॥ २ । १ । ११ ।

एषां नपुंसकानां नुमागमः स्यात् इकारस्य चाकारः टादौ स्वरे परे । दध्ना, दध्ने, दध्नः २, दध्नोः २, दध्नाम्, दध्नि, दधनि, शेषं वारिवत् । एवमस्थिसक्थ्यक्षिप्रभृतयः । ग्रामणि ।

(२०३) भाषितपुंस्कं* पुंवद्वा ॥ २ । १ । १२ ।

नाम्यन्तं भाषितपुंस्कं नपुंसकं पुंवद्वा स्यात् टादौ स्वरे परे । ग्रामण्या, ग्रामणिना, ग्रामण्ये, ग्रामणिने । यवक्रिया, यवक्रिणा इत्यादि । मधु, मधुनी, मधूनि, पुनस्तद्वत्, मधुना, मधुने, हे मधो, हे मधु, धातृ, धातृणी, धात्रा, धातृणा, हे धातः, हे धातृ । एवं ज्ञातृकर्त्रादयः ।

इति स्वरान्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

---

* यन्निमित्तमुपादाय, पुंसि शब्दः प्रवर्तते ।
नपुंसके तदेव स्या-दुक्तपुंस्कं तदुच्यते ॥

अथ हसान्ताः पुल्लिँङ्गाः

(२०४) अनडुहः ॥ १ । ४ । ७६ ।

अनडुह्शब्दस्य आमागमः स्यात् थुटि परे ।

(२०५) सौ नुम् ॥ १ । ४ । ८० ।

अनडुह्शब्दस्य नुमागमः स्यात् सौ परे ।

(२०६) संयोगस्य ॥ २ । १ । ११६ ।

संयोगान्तस्य लोपः स्यात् पदान्ते स च परे स्यादिविधौ च पूर्वस्मिन्नसिद्धः। अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः, अनड्वाहम्, अनड्वाहौ, अनडुहः, अनडुहा ।

(२०७) कस्स्रंसुध्वंसुभ्रंसनडुहां दः ॥ २ । १ । ६६ ।

एषां दोन्तादेशः स्यात् पदान्ते । अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः अनडुत्सु ।

(२०८) उभयोर्धावम् ॥ १ । ४ । ८१ ।

चतुरनडुहोरमागमः स्यात् धौ परे । हे अनड्वन् ।

(२०९) होढो झसपदान्तयोः ॥ २ । १ । ११२ ।

हस्य ढः स्यात् झसे प्रत्यये पदान्ते च । मधुलिट्, मधुलिड्, मधुलिहौ, मधुलिहः, मधुलिड्भ्याम्, मधुलिट्सु ।

(२१०) भ्वादेर्दादेर्घः ॥ २ । १ । ११३ ।

दकारादेर्धातोर्हस्य घः स्यात् झसे पदान्ते च ।

(२११) आदिडबानां झभान्तस्यैकस्वरस्य ढभाः स्ध्वोः प्रत्यययोश्च ॥ २ । १ । १०६ ।

एकस्वरस्य झभान्तस्य धातुरूपाऽवयवस्यादिडबानां ढभाः स्युः

पदान्ते स्ध्वोश्च परयोः। गोधुक्, गोधुग्, गोदुहौ, गोदुहः, गोधुग्भ्याम्। कषसंयोगे क्षः। गोधुक्षु।

(२१२) द्रुहमुहष्णुहष्णिहां वा॥ २। १। ११४।

एषां हस्य घो वा स्यात् झसे पदान्ते च। पक्षे ढत्वम्। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्, ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्, ध्रुक्षु, ध्रुट्सु। एवं मुहष्णुहष्णिहाम्।

(२१३) सहेः साडः॥ २। २। ३८।

साड्रूपस्य सहेः सस्य षः स्यात्। तुराषाट्, तुराषाड्, तुरासाहौ, तुरासाहः, तुराषाड्भ्यामित्यादि।

(२१४) चतुर आम्॥ १। ४। ७८।

चतुर आमागमः स्यात् धुटि परे। चत्वारः, चतुरः, चतुर्भिः, चतुर्भ्यः २।

(२१५) संख्यायार्ष्णः॥ १। ४। ३८।

रकारषकारनकारान्तसंख्यासम्बन्धिन आमो नुट् स्यात्। चतुर्णाम्।

(२१६) न रः सुपि॥ २। १। १०४।

रेफान्तस्य विसर्गो न स्यात् सुपि परे। चतुर्षु। राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ। उपधालोपे नस्य चुत्वे जञसंयोगे च राज्ञः, राज्ञा, राजभ्याम्, राजभिः, राज्ञे, राज्ञः २, राज्ञोः २, राज्ञाम्, राज्ञि, राजनि, राजसु।

(२१७) न धौ॥ २। १। १२२।

नाम्नो नस्य लोपो न स्यात् धौ परे। हे राजन्। यज्वा, यज्वानौ। अनोऽतोऽवमयुक्तादित्यनोऽतो लोपो न। यज्वनः, यज्वना। आत्मा, आत्मानौ, आत्मनः, आत्मना। सुधर्मा, सुधर्माणौ, सुधर्माणः इत्यादि। श्वा, श्वानौ, श्वानः, श्वानम्, श्वानौ।

(२१८) श्वन्युवन्मघोनामीपूस्याद्यथुटि व उः ॥ २ । १ । २६ ।

एषां सस्वरवकार उः स्यात् ईपि थुड्वर्जिते स्यादिस्वरे च परे। शुनः, शुना, श्वभ्याम्, श्वभिः। एवं युवा, युवानौ, यूनः, यूना, मघवा, मघवानौ, मघोनः, मघोना।

(२१९) पथिन्मथिनृभुक्षामितोऽत् ॥ १ । ४ । ७५ ।

एषामिकारस्य अकारः स्यात् थुटि परे।

(२२०) थो न्थ् ॥ १ । ४ । ७६ ।

पथ्यादीनां थस्य न्थ्डागमः स्यात् थुटि परे।

(२२१) आः सौ ॥ १ । ४ । ७७ ।

पथ्यादीनामाकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे। पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ।

(२२२) पथिन्मथिनृभुक्षां टेर्लोपः ॥ २ । १ । २७ ।

एषां टेर्लोपः स्यात् ईपि थुड्वर्जिते स्यादिस्वरे च परे। पथः, पथा, पथिभ्यामित्यादि। एवं मन्थाः, ऋभुक्षाः।

(२२३) इन्हन्पूषन्नर्यम्णां सौ च ॥ १ । ४ । ६८ ।

इन्नन्तस्य हनादीनां चोपधाया दीर्घः स्यात् शौ धिवर्जिते सौ च परे नान्यत्र। दण्डी, दण्डिनौ, दण्डिनः, हे दण्डिन्। एवं मुसलिन्, हलिन्, यशस्विन् प्रभृतयः। वृत्रहा।

(२२४) क्वेकस्वरवतः ॥ २ । २ । ८४ ।

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य कवर्गवत एकस्वरवतश्चोत्तरपदस्य नामान्तस्य नुमागमस्य स्यादेश्च नस्य णः स्यात्। वृत्रहणौ, वृत्रहणः।

(२२५) हनो ह्रो घ्नः ॥ २ । १ । ३८ ।

हन्तेर्ह्र इति रूपस्य घ्नादेशः स्यात् ।

(२२६) हनो घेन ॥ २ । २ । १०४ ।

हन्धातोर्नस्य घकारेणान्तरे णो न स्यात् । वृत्रघ्नः, वृत्रघ्ना, वृत्रहभ्यामित्यादि । एवं पूषन्, अर्यमन् इत्यादि । पञ्च, पञ्च, पञ्चभिः, पञ्चभ्यः २, पञ्चानाम्, पञ्चसु । एवं सप्तन्, नवन्, दशन् प्रभृतयः ।

(२२७) वाष्टन आः स्यादौ ॥ १ । ४ । ६ ।

अष्टन्शब्दस्य आकारोऽन्तादेशो वा स्यात् स्यादौ परे ।

(२२८) औशाष्टः ॥ १ । ४ । ५ ।

अष्टाशब्दात्परयोर्जस्शसोः औशादेशः स्यात् । अष्टौ २, अष्टाभिः, अष्टाभ्यः २, अष्टानाम्, अष्टासु । पक्षे अष्ट २ । शेषं पञ्चवत् ।

(२२९) मो नो वमोश्च ॥ २ । १ । ६८ ।

धातोर्मस्य नः स्यात् वमयोः परयोः पदान्ते च स च परेऽसिद्धः । प्रशान् । असिद्धत्वान्नस्य लोपो न । प्रशामौ, प्रशान्भ्याम्, प्रशान्सु ।

(२३०) किमः कः ॥ २ । १ । ७६ ।

किमः कः स्यात् स्यादौ । कः, कौ, के । शेषं सर्ववत् ।

(२३१) सावयं पुंसि ॥ २ । १ । ७३ ।

इदमोऽयम् स्यात् सौ परे पुंसि । अयम् ।

(२३२) दोमः स्यादौ ॥ २ । १ । ७५ ।

इदमो दस्य मः स्यात् स्यादौ । इमौ, इमे, इमम्, इमौ, इमान् ।

(२३३) अनक्षौ सोः ॥ २ । १ । ७२ ।

अग्रहितस्येदमः अनादेशः स्यात् टौसोः परयोः । अनेन । अनक

इति किम्—इमकेन ।

(२३४) अनकः ॥ २ । १ । ७१ ।

अग्रहितस्येदमः अशादेशः स्यात् हसादौ स्यादौ । आभ्याम् । अनक इति किम्—इमकाभ्याम् ।

(२३५) इदमदसोऽक्येव ॥ १ । ४ । १० ।

एतयोरक्येव सति भिस ऐस् स्यात् नान्यथा । एभिः । अकि तु इमकैः । अस्मै, अस्मात्, अस्य, अनयोः, एषाम्, अस्मिन्, एषु ।

(२३६) इदमः ॥ २ । १ । ६६ ।

इदमः एनदादेशः स्यात् अन्वादेशे द्वितीयायां टायामोसि च परे । कथितानुकथनमन्वादेशः । एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः २ । यथा अनेनावश्यकमधीतमेनं व्याकरणमध्यापय । तत्त्वभुत्, तत्त्वभुद्, तत्त्वबुधौ, तत्त्वभुद्भ्याम्, तत्त्वभुत्सु । सम्राट्, सम्राजौ, सम्राजः, सम्राड्भ्याम्, सम्राट्सु ।

(२३७) वसुराटोः ॥ ३ । २ । ८३ ।

विश्वस्य दीर्घः स्यात् वसुराटोः परयोः । विश्वाराट्, विश्वाराड्, विश्वराजौ, विश्वाराड्भ्याम्, विश्वाराट्सु ।

(२३८) स्कोः संयोगाद्योर्लोपः ॥ २ । १ । ११८ ।

संयोगाद्योः *सकारककारयोर्लोपः स्यात् झसे पदान्ते च । वृक्षवृट्, वृक्षवृड्, वृक्षवृश्चौ, वृक्षवृड्भ्याम् इत्यादि ।

(२३९) तः सौ सः ॥ २ । १ । ७८ ।

---

* नकारजावनुस्वार-ञ्चमौ धातौ झसे परे ।
सकारजः शकारश्चे-षाट्टवर्गस्तवर्गजः ॥ १ ॥

द्विपर्यन्तानां त्यदादीनां तस्य सः स्यात् सौ परे। स्यः, त्यौ, त्ये, सः, तौ, ते, यः, यौ, ये, एषः, एतौ, एते।

(२४०) एनत्त्यदादेरेतदो द्वितीयाटौस्स्वसमासान्ते ॥ २। १। ६८।

त्यदादेरेतदो द्वितीयायां टायामोसि च परे एनदादेशः स्यात् अन्वादेशे न तु समासान्ते। एनम्, एनौ, एनान्, एनेन, एनयोः, एनयोः। असमासान्ते इति किम्—अथो परमैतं पश्य।। सुशीलौ एतौ, एनौ गुरवो मानयन्ति। अग्निमत्, अग्निमद्, अग्निमथौ, अग्निमद्भ्याम्, अग्निमत्सु। प्रत्यञ्चतीति क्विपि कृते।

(२४१) अनिदितो ह्रसस्योपधाया नो लोपः क्ङिति ॥ ४। २। ३६।

ह्रसान्तस्य अनिदितो धातोरुपधाया नस्य लोपः स्यात् क्ङिति परे।

(२४२) अचः ॥ १। ४। ५६।

लुप्तनकारस्याऽञ्चतेर्नुमागमः स्यात् थुटि परे।

(२४३) अञ्चुयुजिक्रुञ्चां नो ङः ॥ २। १। १०२।

एषां नस्य ङः स्यात् पदान्ते। प्रत्यङ्, प्रत्यञ्चौ, प्रत्यञ्चः, प्रत्यञ्चम्, प्रत्यञ्चौ।

(२४४) अचेः पूर्वदीर्घश्चाऽञ्क्यथुटि यस्वरे ॥ २। १ ३२।

लुप्तनकारस्याऽञ्चतेरकारस्य लोपः स्यात् पूर्वस्य च दीर्घः ञ्क्यथुड्वर्जिते यकारे स्वरे च परे। प्रतीचः, प्रतीचा।

(२४५) चजोः कगौ ॥ २। १। ११६।

चजोः कगौ स्तः झसे पदान्ते च। प्रत्यग्भ्याम्, प्रत्यक्षु। तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ।

(२४६) तिर्यचस्तिरश्चः ॥ २ । १ । ३४ ।

तिर्यचस्तिरश्चादेशः स्यात् ञिवयथुङ्वर्जिते यकारे स्वरे च परे। अकार उच्चारणार्थः। तिरश्चः, तिरश्चा, तिर्यग्भ्याम्।

(२४७) अदद्र्यचो वा ॥ २ । १ । ८५ ।

*अदद्र्यच्शब्दस्य दस्य मो वा स्यात्।

(२४८) मादुवर्णोऽनु ॥ २ । १ । ८१ ।

अदसो मात्परस्य वर्णमात्रस्य उवर्ण आसन्नः स्यात् अनु कार्यान्तरस्य पश्चात्। ह्रस्वस्य ह्रस्वः, दीर्घस्य दीर्घः इत्यर्थः। †अमुमुयङ्, अमुमुयञ्चौ, अमुमुईचा, अमुमुयग्भ्याम्। पक्षे—अदद्र्यङ्, अदद्र्यञ्चौ, अदद्र्यग्भ्याम् इत्यादि। जलमुक्, जलमुचौ, जलमुग्भ्याम्। मरुत्, मरुद्भ्याम्। काष्ठचित्, काष्ठचित्सु। ऋदित् महच्छब्दः।

(२४९) उदृदितो नुम् ॥ १ । ४ । ५८ ।

उकारानुबन्धस्य ऋकारानुबन्धस्य च नुमागमः स्यात् घुटि परे।

(२५०) न्स्महतः ॥ १ । ४ । ६४ ।

न्सन्तस्य महत्शब्दस्य चोपधाया दीर्घः स्यात् धिवर्जिते घुटि परे। महान्, महान्तौ, महान्तः, हे महन्। उदित् भवच्छब्दस्य।

---

* अमुमञ्चतीतिविग्रहे' अदस्-अञ्च्' इत्यवस्थायां 'सर्वादिविष्वग्देवानां टेरद्र्यञ्चतौ क्वावि'त्यादिना अदसष्टेरद्र्यादेशो—अदद्र्यच्।

† परतः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति पूर्वतः।
उभयोः केचिदिच्छन्ति, केचिदिच्छन्ति नोभयोः॥

अदमुयङ्, अदमुयञ्चौ, अदमुयग्भ्याम्। अमुद्र्यङ्, अमुद्र्यञ्चौ, अमुद्र्यग्भ्याम् इत्यादीन्यपि मतान्तरे।

(२५१) अत्वसोरभ्वादेः सौ ॥ १ । ४ । ६७ ।

भ्वादिवर्जितस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य चोपधाया दीर्घः स्यात् अधौ सौ परे । भवान्, भवन्तौ, हे भवन् । शत्रन्तस्य तु अत्वन्तत्वाभावान्न दीर्घः । भवन्, भवन्तौ, भवन्तः । धीमान्, धीमन्तौ, हे धीमन् ।

(२५२) दिशृदृशस्पृशमृशदधृषुष्णिहस्रजृत्विजां गः ॥ २ । १ । १०० ।

एषां गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते । तादृग्, तादृशौ, तादृशः, तादृग्भ्याम्, तादृक्षु । एवं यादृगादयः । विट्, विड्, विशौ, विड्भ्याम्, विट्सु । रत्नमुट्, रत्नमुड्, रत्नमुषौ, रत्नमुड्भ्याम् । षट्, षड्, षड्भिः, षड्भ्यः २, षण्णाम्, षट्सु ।

(२५३) इसुसू सजुषाम् ॥ २ । १ । १०७ ।

एषां रेफान्तादेशः स्यात् पदान्ते । रेफविधानं दीर्घार्थम् ।

(२५४) पदान्ते ॥ २ । १ । ६५ ।

धातोरिकारोकारयोः दीर्घः स्यात् पदान्ते वर्तमानयोः रेफवकारयोः परयोः । सजूः, सजुषौ, सजूर्भ्याम् ।

(२५५) नुम् विसर्गशसान्तरेऽपि ॥ २ । २ । १५ ।

नुमादिना व्यवधानेऽपि क्विलात्परस्य कृतस्य सस्य षः स्यात् । सजूःषु । णषमसिद्धमिति षत्वस्यासिद्धत्वात् इसुस् लक्षणो रः । पिपठीः, पिपठिषौ, पिपठीर्भ्याम्, पिपठीःषु । दोष्शब्दस्य षत्वस्यासिद्धत्वात्, स्रोर्विसर्गः । दोः, दोषौ, दोषः । शसादौ दोषन् वा । दोषः, दोष्णः, दोषा, दोष्णा, दोर्भ्याम्, दोषभ्याम्, दोःषु, दोष्षु, दोषसु ।

(२५६) पुंसोः पुमन्सः ॥ १ । ४ । ५७ ।

पुंस्शब्दस्य पुमन्स इत्यादेशः स्यात् धुटि परे । अकार उच्चार-

णार्थः । पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः, हे पुमन्, पुमांसौ, पुंसः, पुंसा, पुंभ्याम्, पुंसे, पुंसः, पुंसि, पुंसु । क्वसोरुदित्वान्नुम् । विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः, हे विद्वन्, विद्वांसम्, विद्वांसौ ।

(२५७) क्वस उष् मतौ च ॥ २ । १ । ३७ ।

क्वस उष् स्यात् मतौ ञिक्यथुड्वर्जिते यकारे स्वरे च परे । विदुषः, विदुषा, विद्वद्भ्याम्, विदुषे, विदुषः, विदुषोः, विदुषाम्, विदुषि, विद्वत्सु । चन्द्रमाः, चन्द्रमसौ, चन्द्रमोभ्याम्, चन्द्रमसः, चन्द्रमसि, चन्द्रमःसु, हे चन्द्रमः ।

(२५८) अदसो दः सेस्तु डौः ॥ २ । १ । ७६ ।

अदसो दस्य सौ परे सः स्यात् सेस्तु डौः । असौ । आद्वेरित्यत्वे कृते ।

(२५९) दोमोऽवर्णस्य ॥ २ । १ । ८४ ।

अवर्णान्तस्य अदसो दस्य मः स्यात् । अमू ।

(२६०) एरीर्बहुत्वे ॥ २ । १ । ८३ ।

अदसो मात्पर एकारः इः स्यात् बहुत्वे । अमी, अमुम्, अमू, अमून् । इनादेशे प्राप्ते ।

(२६१) प्रागिनात् ॥ २ । १ । ८२ ।

अदसो मात्परस्य वर्णमात्रस्य इनादेशात् प्रागेव उः स्यात् । अमुना, अमूभ्याम्, अमीभिः, अमुष्मै, अमूभ्याम्, अमीभ्यः, अमुष्मात्, अमुष्य, अमुयोः २, अमीषाम्, अमुष्मिन्, अमीषु ।

इति हसान्ताः पुल्लिँङ्गाः ।

अथ हसान्ताः स्त्रीलिङ्गाः

(२६२) नहो धः ॥ २ । १ । ११५ ।

नहो हस्य धः स्यात् झसे प्रत्यये पदान्ते च । उपानद, उपानहौ, उपानद्भ्याम्, उपानत्सु । दिशदृशित्यादिना गत्वे—उष्णिग्, उष्णिग्भ्याम् । गीः गिरौ, गिरः, गीर्भ्याम्, गीर्षु । एवं पुर्धुरादयः । चतस्रः, चतसृणाम् । का, के, काः । सर्वावत् ।

(२६३) इयं स्त्रियाम् ॥ २ । १ । ७४ ।

इदम इयमित्यादेशः स्यात् स्त्रियां सौ परे । इयम्, इमे, इमाः, इमाम्, इमे, इमाः, अनया, आभ्याम्, आभिः, अस्यै, अस्याः २, अनयोः २, आसाम्, अस्याम्, आसु । अन्वादेशे—एनाम्, एने, एनाः, एनया, एनयोः २ । समिद्, समित्, समिधौ, समिद्भ्याम्, समित्सु । ककुब्, ककुप्, ककुभौ, ककुब्भ्याम्, ककुप्सु । स्रक्, स्रजौ, स्रग्भ्याम्, स्रक्षु । स्या, त्ये, त्याः । एवं तद्, यद्, एतद् । वाक्, वाचौ, वाग्भ्याम्, वाक्षु । त्वक्, त्वचौ । ऋक्, ऋचौ । अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।

(२६४) अपः ॥ १ । ४ । ६५ ।

अप्शब्दस्योपधाया दीर्घः स्यात् धिवर्जिते थुटि परे । आपः, अपः

(२६५) भिद्पाम् ॥ २ । १ । ६० ।

अप्शब्दस्य भकारे परे दकारादेशः स्यात् । अद्भिः, अद्भ्यः २, अपाम्, अप्सु । दिक्, दिशौ, दिशः, दिग्भ्याम्, दिक्षु । आशीः, आशिषौ, आशीर्भ्याम् । असौ, अमू, अमूः, अमूम्, अमू, अमूः, अमुया, अमूभ्याम् अमूभिः, अमुष्यै, अमुष्याः २, अमुयोः २, अमूषाम्, अमुष्याम्, अमूषु ।

इति हसान्ताः स्त्रीलिङ्गाः

अथ हसान्ता नपुंसकलिङ्गाः

वाः, वारी, वारि, वार्भ्याम्, वार्षु । चत्वारि २, अहः, अह्नी, अहनी, अहानि, पुनस्तद्वत्, अह्ना, अहोभ्याम्, अह्ने, अह्नः २, अह्नोः २, अह्नाम्, अह्नि, अहनि, अहःसु, हे अहः । नाम, नाम्नी, नामनी, नामानि ।

(२६६) नपुंसके वा ॥ २ । १ । १२३ ।

नपुंसके वर्तमानस्य नाम्नो नस्य लोपो वा स्यात् धौ परे । हे नाम, हे नामन् । ब्रह्म, ब्रह्मणी, ब्रह्माणि । एवं वर्मन्, चर्मन्, कर्मन्, धन्वनादयः । दण्डि, दण्डिनी, दण्डीनि, हे दण्डि, हे दण्डिन् । स्रग्वि, स्रग्विणी, स्रग्वीणि । किम्, के, कानि । इदम्, इमे, इमानि । अन्वादेशे—एनत्, एने, एनानि । त्यद्, त्ये, त्यानि, तत्, ते, तानि । यत् ये, यानि । एतद्, एते, एतानि । जगत्, जगती, जगन्ति । महत्, महती, महान्ति । तुदत् ।

(२६७) अवर्णादनः शतुर्वेपोः ॥ १ । ४ । ६१ ।

नावर्जितादवर्णात्परस्य शतुर्नुम् वा स्यात् ईकारे ईपि च परे । तुदन्ती, तुदती, तुदन्ति । पचत् ।

(२६८) अब्यनः ॥ १ । ४ । ६२ ।

अब् यन् इत्येताभ्यां परस्य शतुर्नुम् नित्यं स्यात् ईकारे ईपि च परे । पचन्ती, पचन्ति ।

(२६९) भ्वादेरिदुतोर्दीर्घोर्वोर्हसे ॥ २ । १ । ६४ ।

धातोरिकारोकारयोः दीर्घः स्यात् रेफवकारयोर्हसपरयोः । दीव्यत्,

दीव्यन्ती, दीव्यन्ति। धनुः धनुषी, धनूंषि, धनुषा, धनुर्भ्याम्। एवं चक्षुर्हविरादयः। पयः, पयसी, पयांसि। यशः, यशसी, यशांसि। वचः, वचसी, वचांसि। अदः, अमू, अमूनि। नामिनः स्वरे नामीति नुम्—अमुना।

इति स्यादिप्रकरणे हसान्ता नपुंसकलिङ्गाः

इति स्यादिप्रकरणम्

अथालिङ्गौ युष्मदस्मच्छब्दौ

(२७०) त्वमहं सिनाऽकः प्राक् च ॥ २ । १ । ४५ ।

युष्मदस्मदोः सिना सह क्रमेण त्वम्, अहम् इत्यादेशौ स्तः तौ चाकः प्रागेव । त्वम्, अहम् । अकः प्रागिति किम्—त्वकम्, अहकम् ।

(२७१) मान्तयोर्युवावौ द्वित्वे ॥ २ । १ । ४३ ।

द्व्यर्थवाचिनो युष्मदस्मदोर्मकारपर्यन्तयोर्युव, आव इत्यादेशौ स्तः स्यादौ । अदेतोरपदान्तेऽतः इत्यकारलोपः ।

(२७२) युष्मदस्मदोर्लोपः स्यादौ ॥ २ । १ । ४१ ।

अनयोरन्तस्य लोपः स्यात् स्यादौ ।

(२७३) आमौः ॥ २ । १ । ४६ ।

युष्मदस्मद्भ्यां पर औः आम् स्यात् । युवाम्, आवाम् । मान्तयोरिति किम्—युवकाम्, आवकाम् । अत्र साको माभूत् ।

(२७४) यूयं वयं जसा ॥ २ । १ । ४६ ।

युष्मदस्मदोर्जसा सह यूयम्, वयम् इत्यादेशौ स्तः तौ चाकः प्रागेव । यूयम्, वयम् । अकः प्रागिति किम्—यूयकम्, वयकम् ।

(२७५) त्वमौ प्रत्ययोत्तरपदे चैकत्वे ॥ २ । १ । ४४ ।

मकारपर्यन्तयोर्युष्मदस्मदोस्त्व,म इत्यादेशौ स्तः एकत्वे गम्ये स्यादौ प्रत्यये उत्तरपदे च । अन्त्यस्य दस्य लोपे प्राप्ते ।

(२७६) आ अमृहसयोः ॥ २ । १ । ५४ ।

युष्मदस्मदोराकारादेशः स्यात् अमि हसादौ च स्यादौ परे । त्वाम्, माम्, युवाम्, आवाम् ।

(२७७) शसो नश् ॥ २ । १ । ५० ।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य शसो नशादेशः स्यात् । अकार उच्चारणार्थः । युष्मान्, अस्मान् ।

(२७८) टाङ्योसि यः ॥ २ । १ । ५५ ।

युष्मदस्मदोर्यकारादेशः स्यात् टा, ङि, ओस् इत्येतेषु परेषु । त्वया, मया, युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, युष्माभिः, अस्माभिः ।

(२७९) तुभ्यं मह्यं ङ्या ॥ २ । १ । ४७ ।

युष्मदस्मदोर्ङ्या सह तुभ्यम्, मह्यम् इत्यादेशौ स्तः प्राक् चाकः । तुभ्यम्, मह्यम् । अकः प्रागिति किम्—तुभ्यकम्, मह्यकम् । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् ।

(२८०) भ्यसोऽभ्यम् ॥ २ । १ । ५२ ।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य भ्यसः अभ्यम् स्यात् । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् ।

(२८१) ङसिभ्यसोरद् ॥ २ । १ । ५१ ।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसेस्तत्सहचरितपञ्चम्या भ्यसश्च स्थाने अदादेशः स्यात् । त्वद्, मद्, युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, युष्मद्, अस्मद् ।

(२८२) तव मम ङसा ॥ २ । ४ । ४८ ।

युष्मदस्मदोर्ङसा सह तव, मम इत्यादेशौ स्तः प्राक् चाकः। तव, मम। अकः प्रागिति किम्—तवक, ममक, युवयोः आवयोः।

(२८३) आम आकम् ॥ २ । १ । ५३ ।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य आमः आकम् स्यात्। युष्माकम्, अस्माकम्, त्वयि, मयि, युवयोः, आवयोः, युष्मासु, अस्मासु।

(२८४) सविशेषणमेकाख्यातं वाक्यम् ॥ १ । १ । ३० ।

विशेषणेन सहितमेकमेवाख्यातं वाक्यसंज्ञं स्यात्।

(२८५) पदादेकवाक्ये द्वितीयाचतुर्थीषष्ठीभिर्वस्नसौ बहुत्वे वा ॥ २ । १ । ५६ ।

एकवाक्ये पदात्परयोर्युष्मदस्मदोर्द्वितीयाचतुर्थीषष्ठीसहितयोर्वस्-नसादेशौ वा स्तः बहुत्वे। धर्मो वः युष्मान् वा रक्षतु, धर्मो नः अस्मान् वा रक्षतु, ज्ञानं वः युष्मभ्यं वा दीयते, ज्ञानं नः अस्मभ्यं वा दीयते, शीलं वः युष्माकं वा स्वम्, शीलं नः अस्माकं वा स्वम् पदादिति किम्—युष्मान् अस्मान् वा धर्मो रक्षतु। एकवाक्ये इति किम्—ओदनं पचत—युष्माकं भविष्यति।

(२८६) वाम् नौ द्वित्वे ॥ २ । १ । ५७ ।

स्पष्टम्। धर्मो वां युवां वा रक्षतु, धर्मो नौ आवां वा रक्षतु, ज्ञानं वां युवाभ्यां वा दीयते, ज्ञानं नौ आवाभ्यां वा दीयते, शीलं वां युवयोः वा स्वम्, शीलं नौ आवयोः वा स्वम्।

(२८७) ते मे ङेङसा ॥ २ । १ । ५८ ।

पदादेकवाक्ये ङेङसासहितयोर्युष्मदस्मदोस्ते, मे इत्यादेशौ वा

स्तः। ज्ञानं ते तुभ्यं वा दीयते, ज्ञानं मे मह्यं वा दीयते, शीलं ते तव वा स्वम्, शीलं मे मम वा स्वम्।

(२८८) त्वामामा ॥ २ । १ । ५६ ।

पदादेकवाक्ये अमासहितयोर्युष्मदस्मदोस्त्वा, मा इत्यादेशौ वा स्तः। धर्मस्त्वा त्वां वा रक्षतु, धर्मो मा मां वा रक्षतु।

(२८९) नित्यमन्वादेशे ॥ २ । १ । ६६ ।

पदात्परयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादयोऽन्वादेशे नित्यं स्युः। यूयं सुशीलाः अथो वो गुरवो मानयन्ति। वयं विनीता अत उपाध्याया नो मानयन्ति।

(२९०) न पादाद्योः ॥ २ । १ । ६३ ।

पदात्परयोः पादस्यादिभूतयोर्युष्मदस्मदोर्वस्नसादयो न स्युः।

वीरो विश्वेश्वरो देवो, युष्माकं भवतारकः।
स एव नाथो भगवान्, अस्माकं पापनाशनः॥ १ ॥

पादाद्योरिति किम्—

पातु वो देशनाकाले, जैनेन्द्रं वचनामृतम्।

(२९१) चवाहाऽहैवयोगे ॥ २ । १ । ६४ ।

चादिभिर्योगे युष्मदस्मदोर्यदुक्तं तन्न स्यात्—

आवयोर्युवयोश्चेशो, वेशो हेशस्तथैव च।
अहेश आवयोरेव, वीरो मामेव रक्षतु ॥१॥

इति युष्मदस्मत्-प्रकरणम्

अथ अव्यय-प्रकरणम्

(२६२) निपातस्वरादयोऽव्ययम् ॥ १ । १ । ४८ ।

निपाताश्चादयः स्वरादयश्च शब्दा अव्ययसंज्ञकाः स्युः । स्वर्, अन्तर्, श्रत्, प्रातर्, पुनर्, सत्यम्, नक्तम्, अस्तम्, दिवा, दोषा, ह्यस्, श्वस्, शम्, भृशम्, सपदि, आशु, शीघ्रम्, झटिति, तूर्णम्, स्वस्ति समया, अन्तरा, बहिस्, अधस्, अद्धा, ऋतम्, सत्यम्, मुधा, मृषा, वृथा, मिथ्या, मिथो, मिथस्, अनिशम्, मुहुस्, अभीक्ष्णम्, उच्चैस्, नीचैस्, शनैस्, अवश्यम्, पृथक्, धिक्, मनाक्, ईषत्, तूष्णीम्, प्रकामम्, अरम्, वरम्, परम्, आरात्, तिरस्, नमस्, भूयस्, प्रायस्, स्वयम्, अतीव, सुष्ठु, दुष्ठु, ऋते, साक्षात्, विना, नाना, सहसा, युगपत्, आविस्, प्रादुस्, अकस्मात्, अस्ति, नास्ति, अस्तु इत्यादि ।

(२६३) क्त्वाकृन्मान्तम् ॥ १ । १ । ४९ ।

क्त्वाप्रत्ययः मान्ताश्च कृत्प्रत्यया अव्ययसंज्ञकाः स्युः । कृत्वा, प्रकृत्य, कर्तुम्, हर्तुम्, स्मारंस्मारम् । तसादिप्रत्ययान्ताश्च अव्यय-संज्ञकाः स्युः । ततः, तत्र, इह, कुह, क्व, कदा, एतर्हि, अधुना, इदानीम्, यथा, कथम्, पञ्चधा, एकधा, पञ्चकृत्वः, द्विः, सकृत्, शुक्लीकरोति, अग्निसात्करोति, बहुशो ददाति, मुनिवत्, उच्चैस्तराम् इत्यादि ।

(२६४) अव्ययस्य ॥ ३ । २ । ७ ।

अव्ययसम्बन्धिविभक्तेर्लुक् स्यात् । उक्तं च—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ १ ॥

इत्यव्ययप्रकरणम्

अथ स्त्री-प्रत्यय-प्रकरणम्

(२६५) आबतः स्त्रियाम् ॥ २ । ३ । १ ।

स्त्रियां वर्तमानादकारान्तान्नाम्नः आप् प्रत्ययः स्यात् । सीता, सर्वा, माला, शाला, गंगा ।

(२६६) अजादेः ॥ २ । ३ । २ ।

अजादिभ्यः स्त्रियामाप् स्यात् । बाधकबाधनार्थम् । अजा, एडका, अश्वा, कोकिला, चटका, मूषिका, बाला, वत्सा, मन्दा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा ।

(२६७) अत इदनित्काप्ययत्तद्क्षिपकादीनाम् ॥ २ । ३ । ६५ ।

यदादिवर्जितस्य नाम्नोऽकारस्य इकारः स्यात् अनित् कापि परे । कारिका, पाचिका, पाठिका, सर्विका, मुण्डिका । अत इति किम्—गोका, नौका । कापीति किम्—कारकः । निद्वर्जनं किम्—जीवका । यदादिवर्जनं किम्—यका, सका, क्षिपका, कन्यका, चटका इत्यादि ।

(२६८) ह्रस्वश्चाभाषितपुंस्कात् ॥ २ । ३ । १०४ ।

अभाषितपुंस्कशब्दात्परस्यापः इकारो ह्रस्वश्च वा स्यात् अनित्

कापि परे। गङ्गिका, गङ्गका, गङ्गाका, खट्विका, खट्वका, खट्वाका अभाषितपुंस्कादिति किम्—सर्विका।

(२९९) नृतोऽस्वस्रादेः ॥ २। ३। ७।

नकारान्तात् ऋकारान्ताच्च स्वस्रादिवर्जितात् स्त्रियामीप् स्यात्। दण्डिनी, शुनी, कर्त्री, हर्त्री। अस्वस्रादेरिति किम्—स्वसा।

स्वस्रादयो यथा—

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च, ननान्दा दुहिता तथा।
याता मातेति सप्तैव, स्वस्रादय उदाहृता ॥ १ ॥

(३००) उदृदितोऽधातोः ॥ २। ३। ८।

धातुवर्जितादुकारानुबंधात् ऋकारानुबंधाच्च स्त्रियामीप् स्यात्। भवती, गोमती, विदुषी। पचन्ती, पठन्ती।

(३०१) मनो डाब् वा ॥ २। ३। ४।

मन्नन्तात् स्त्रियां डाप् वा स्यात्। सीमा, सीमे, सीमाः।

(३०२) अनो बहुव्रीहेः ॥ २। ३। ५।

अन्नन्तात् बहुव्रीहेः स्त्रियां डाप् वा स्यात्। सुपर्वा, सुपर्वे, सुपर्वाः। पक्षे नान्तत्वादीपि प्राप्ते।

(३०३) ताभ्यां नेप् ॥ २। ३। ६।

मन्नन्तादन्नन्ताच्च बहुव्रीहेः स्त्रियामीप् न स्यात्। सीमा, सीमानौ, सीमानः। सुपर्वा, सुपर्वाणौ, सुपर्वाणः।

(३०४) उपधालोपिनो वा ॥ २। ३। १४।

उपधालोपिनः अन्नन्ताद् बहुव्रीहेः स्त्रियामीप् वा स्यात्। पक्षे डाब्विकल्पोऽपि। बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ, बहुराज्ञ्यः। बहुराजा,

बहुराजे, बहुराजाः । बहुराजा, बहुराजानौ, बहुराजानः ।

(३०५) अञ्चः ॥ २ । ३ । ६ ।

अञ्चूत्तरपदात् स्त्रियामीप् स्यात् । प्राची, प्रतीची ।

(३०६) मुख्यात् षिट्टिद्णञ्नञ्स्नञ्येकणीकण्करपः ॥ २ । ३ ।२० ।

षानुबन्धाट्टानुबन्धात् अणादिप्रत्ययान्ताच्च मुख्यात् स्त्रियामीप् स्यात् ।

(३०७) ईप्यतः ॥ ८ । ४ । ७२ ।

अतो लोपः स्यात् ईपि परे । वराकी, कुरुचरी, औपगवी, वैदी । मुख्यादिति किम्—बहुवराका नगरी ।

(३०८) गौरादिभ्यः ॥ २ । ३ । २७ ।

गौरादिभ्यः स्त्रियामीप् स्यात् । गौरी, नदी, शबली, गवयी, हयी, अनडुही, अनड्वाही ।

(३०९) मत्स्यस्य यः ॥ ८ । ४ । ७३ ।

मत्स्यस्य यस्य लोपः स्यादीपि । गौरादित्वादीप् । मत्सी ।

(३१०) हसात्तद्धितस्य ॥ ८ । ४ । ७४ ।

हसात्परस्य तद्धितयस्य लोपः स्यादीपि । मनुषी ।

(३११) वयस्यचरमेतः ॥ २ । ३ । २५ ।

अचरमे वयसि वर्तमानादकारान्तात् स्त्रियामीप् स्यात् । कुमारी, किशोरी, तरुणी । अचरमे इति किम्—वृद्धा, स्थविरा ।

(३१२) शोणादेः ॥ २ । ३ । ३४ ।

शोणादिभ्य ईप् वा स्यात् स्त्रियाम् । शोणी, शोणा, चण्डी, चण्डा ।

(३१३) जातेरयोपधनित्यस्त्रीशूद्रात् ॥ २ । ३ । ३६ ।

*जातिवाचिनोऽकारान्तात् स्त्रियामीप् स्यात् न चेत्तद्‌योपधनित्यस्त्रीजातिवाची शूद्रशब्दो वा स्यात् । मृगी, हंसी, ब्राह्मणी, माडायनी, कठी । योपधादिवर्जनं किम्—क्षत्रिया, वैश्या, मक्षिका, यूका, शूद्रा । अत इति किम्—आखुः ।

(३१४) द्विगोः समाहारात् ॥ २ । ३ । ४१ ।

समाहारद्विगोरदन्तात् स्त्रियामीप् स्यात् । पञ्चानामजानां समाहारः पञ्चाजी । त्रिलोकी ।

(३१५) भर्तृयोगादपालकान्तात् ॥ २ । ३ । ५१ ।

भर्तृयोगादकारान्तात् स्त्रियामीप् स्यात् न तु पालकान्तात् । गणकी, गोपी । पालकान्तात्तु गोपालिका ।

(३१६) इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडानामानुक् च ॥ २ । ३ । ५५ ।

एभ्यः स्त्रियामीप् स्यात् भर्तृयोगे आनुगागमश्चैषाम् । इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी ।

(३१७) मातुलाचार्योपाध्यायाद् वा ॥ २ । ३ । ५६ ।

एभ्यः स्त्रियामीप् स्यात् भर्तृयोगे आनुगागमश्च वा । मातुलानी, मातुली ।

(३१८) क्षुभ्नादीनाम् ॥ २ । २ । १०६ ।

क्षुभ्नादीनां नस्य णो न स्यात् । इति णत्वनिषेधे—आचार्यानी, आचार्यी, उपाध्यायानी, उपाध्यायी ।

---

* आकृतिग्रहणा जाति-र्लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ॥ १ ॥

(३१९) आर्यक्षत्रियाद् वा ॥ २ । ३ । ६० ।

आभ्यां स्त्रियामीप् वा स्यात् तद्योगे आनुगागमश्च । आर्याणी, आर्या, क्षत्रियाणी, क्षत्रिया ।

(३२०) असहनञ्विद्यमानपूर्वपदात् स्वाङ्गादक्रोडादिभ्यः ॥ २ । ३ । ४५ ।

सहनञ् विद्यमानवर्जितपूर्वपदं यत् स्वाङ्गं* तदन्तात् क्रोडादिवर्जितादकारान्तात् स्त्रियामीप् वा स्यात् । पीनस्तनी, पीनस्तना, अतिकेशी, अतिकेशा । असहनञित्यादि किम्—सहकेशा, अकेशा, विद्यमानकेशा । अक्रोडादिभ्य इति किम्—कल्याणक्रोडा, सुभगा, भव्यभाला, दीर्घबाला, ।

(३२१) नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णश्रृङ्गाङ्गगात्रकण्ठात् ॥ २ । ३ । ४६ ।

असहादिपूर्वपदेभ्य एभ्यः स्वाङ्गेभ्यः स्त्रियामीप् वा स्यात् । सुनासिकी, सुनासिका, कृशोदरी, कृशोदरा, बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठेत्यादि । सहादिपूर्वात्तु सहनासिकेत्यादि । पूर्वेणैव सिद्धे नियमार्थं तेन सुललाटा इत्यादौ बहुस्वरान्न । कल्याणगुल्फा इत्यादौ संयोगोपधान्न ।

(३२२) पुच्छात् ॥ २ । ३ । ४८ ।

असहादिपूर्वात् पुच्छशब्दात् स्त्रियामीप् वा स्यात् । दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, सुपुच्छी, सुपुच्छा । सहादिपूर्वात्तु—सपुच्छा, अपुच्छा इत्यादि ।

---

* अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं, प्राणिस्थमविकारजम् ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्त-न्निभं च प्रतिमादिषु ॥ १ ॥

(३२३) कबरमणिविषशरादेः ॥ २ । ३ । ४६ ।

कबरादिपूर्वात् पुच्छात् स्त्रियामीप् स्यात् । कबरपुच्छी, मणिपुच्छी, विषपुच्छी, शरपुच्छी ।

(३२४) इतोऽक्त्यर्थाद्वा ॥ २ । ३ । ७५ ।

क्त्यर्थप्रत्ययान्तवर्जितादिकारान्तान्नाम्नः स्त्रियामीप् वा स्यात् । रात्री, रात्रिः, धूली, धूलिः, भूमी, भूमिः । अक्त्यर्थादिति किम्—कृतिः, अजननिः ।

(३२५) नारी सखी ॥ २ । ३ । ७४ ।

इत्येतौ ईबन्तौ निपात्येते । नारी, सखी ।

(३२६) सपत्न्यादौ ॥ २ । ३ । ७६ ।

सपत्न्यादिषु पतिशब्दात् स्त्रियामीप् स्यात् नोऽन्तादेशश्च । समानः पतिर्यस्याः सपत्नी, एकपत्नी, वीरपत्नी ।

(३२७) उतो गुणादखरुसंयोगोपधात् ॥ २ । ३ । ७८ ।

खरुशब्दवर्जितात् संयोगोपधवर्जिताच्च उकारान्तात् गुणवाचिनः* स्त्रियामीप् वा स्यात् । पट्वी, पटुः, साध्वी, साधुः, लघ्वी, लघुः, मृद्वी, मृदुः, । गुणादिति किम्—आखुःस्त्री । अखरुसंयोगोपधादिति किम्—खरुरियं ब्राह्मणी, पाण्डुरियं भूमिः ।

(३२८) यूनस्तिः ॥ २ । ३ । ८६ ।

युवन्शब्दात् स्त्रियां तिःप्रत्ययः स्यात् । युवतिः ।

इति स्त्री-प्रत्यय-प्रकरणम्

---

* सत्वे निविशतेऽपैति, पृथग् जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च, सोऽसत्वप्रकृतिर्गुणः ॥ १ ॥

अथ कारक-प्रकरणम्

(३२६) क्रियानिमित्तं कारकम् ॥ २ । ४ । १ ।

क्रियाया निमित्तं कर्त्रादि कारकसंज्ञं स्यात् ।

(३३०) स्वतन्त्रः कर्ता ॥ २ । ४ । २ ।

यः क्रियासिद्धौ प्राधान्येन विवक्ष्यते स कारकः कर्तृसंज्ञः स्यात् ।

(३३१) नाम्नः प्रथमा ॥ २ । ४ । ४४ ।

नाम्नः प्रथमा विभक्तिः स्यात् । जिनः, श्रीः, ज्ञानम्, द्रोणः, खारी, आढकम्, एकः, द्वौ, बहवः ।

(३३२) आमन्त्रणे ॥ २ । ४ । ४५ ।

आमन्त्रणमभिमुखीकरणम् । आमन्त्रणेऽर्थे नाम्नः प्रथमा विभक्तिः स्यात् । हे जिन, हे जिनौ, हे जिनाः ।

(३३३) कर्तुर्व्याप्यं कर्म ॥ २ । ४ । ३ ।

कर्त्रा क्रियया यद् व्याप्तुमिष्यते, तद् व्याप्यं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

(३३४) गौणात् ॥ २ । ४ । ४६ ।

अधिकारसूत्रमेतत् । त्यादिभिरनुक्तो गौणः । अग्रे वक्ष्यमाणा द्वितीयादयो विभक्तयो गौणान्नाम्न एव स्युरिति वेदितव्यम् ।

(३३५) कर्मणि द्वितीया ॥ २ । ४ । ४७ ।

कर्मणि कारके गौणान्नाम्नो द्वितीया विभक्तिः स्यात् । कटं करोति, काष्ठं दहति, कूपं पश्यति । गौणादिति किम्—घटः क्रियते, कृष्णेन कंसो हतः ।

(३३६) क्रियाविशेषणात् ॥ २ । ४ । ४८ ।

क्रियाविशेषणान्नाम्नो द्वितीया विभक्तिः स्यात् । मन्दं गच्छति, मृदु पचति ।

(३३७) स्मृत्यर्थदयेशां वा ॥ २ । ४ । ४ ।

एषां व्याप्यं कर्मसंज्ञं वा स्यात् । पक्षे शेषषष्ठी । मातुः स्मरति, मातरं स्मरति, सर्पिषो दयते, सर्पिर्दयते, लोकानामीष्टे, लोकानीष्टे ।

(३३८) अधेः शीङ्स्थासामाधारः ॥ २ । ४ । १४ ।

अधेः परेषामेषामाधारः कर्मसंज्ञः स्यात् । ग्राममधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा मुनिः । अधेरिति किम्—शयने शेते ।

(३३९) अन्वध्याङ्भ्यो वसः ॥ २ । ४ । १५ ।

अन्वादिपूर्वकस्य वसतेराधारः कर्मसंज्ञः स्यात् । ग्राममनुवसति, अधिवसति, आवसति वा साधुः ।

(३४०) उपान्निवासे ॥ २ । ४ । १६ ।

निवासेऽर्थे उपात्परस्य वसतेराधारः कर्मसंज्ञः स्यात् । ग्राममुपवसति, निवासं करोतीत्यर्थः । निवासे इति किम्—वने उपवसति, उपवासं करोतीत्यर्थः ।

(३४१) दुहाद्यर्थानामविवक्षितम् ॥ २ । ४ । १६ ।

दुहादीनां तदर्थानाञ्च धातूनां योगे अविवक्षितं कारकं सम्बन्धो

वा कर्मसंज्ञं स्यात् । गां दोग्धि, स्रावयति, क्षारयति वा पय इत्यादि ।

दुहिः पचिर्याचिरुधी च दण्डिः,
पृच्छिमंथिब्रूचिजिशास्मुषश्च ।
नीकृष्वहिहृञ्ज्ञिति चाप्यमीषा-
मर्थे गताः स्युर्युगकर्मयुक्ताः ॥ १ ॥

(३४२) गतिबोधाहारशब्दार्थाऽकर्मणाम् ॥ २ । ४ । २१ ।

गत्याद्यर्थानामकर्मणाञ्च धातूनामञ्जिन्नवस्थायां यः कर्ता स ञ्जौ सति कर्मसंज्ञः स्यात् । गच्छति मैत्रो ग्रामम्, गमयति मैत्रं ग्रामम्, बुध्यते शिष्यो धर्मम्, बोधयति शिष्यं धर्मम्, भुङ्क्ते शिशुरोदनम्, भोजयति शिशुमोदनम्, जल्पति मैत्रो मन्त्रम्, जल्पयति मैत्रं मन्त्रम्, आस्ते मैत्रः, आसयति मैत्रं चैत्रः । गत्यर्थादीनामिति किम्—पचति ओदनं चैत्रः, पाचयति ओदनं चैत्रेण मैत्रः ।

(३४३) न नीखाद्यदिह्वाशब्दायक्रन्दाम् ॥ २ । ४ । २६ ।

एषामञ्जिनः कर्ता ञ्जौ कर्मसंज्ञो न स्यात् । नाययति भारं भृत्येन, खादयति अन्नं मैत्रेण, आदयति अपूपं पुत्रेण, ह्वाययति, शब्दाययति, क्रन्दयति वा मैत्रं चैत्रेण ।

(३४४) निकषासमयाहाधिगन्तरान्तरेणातियेनतेनैः ॥
२ । ४ ।४६।

एभिर्युक्तान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । निकषा ग्रामम्, समया पर्वतम्, हा चैत्रम्, धिक् मिथ्यादृष्टिम्, अन्तरा निषधं नीलवन्तं च मेरुः, जिनदर्शनमन्तरेण किम्, अतिकुरुन् पाण्डुसेना, येन तेन वा पश्चिमां गतः ।

(३४५) सर्वोभयाभिपरिभिस्तसन्तैः ॥ २ । ४ । ५० ।

एभिस्तसन्तैर्युक्तान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । सर्वतः, उभयतः, अभितः, परितो वा ग्रामं पर्वताः ।

(३४६) उपर्यधोऽधिभिर्द्वित्वे ॥ २ । ४ । ५१ ।

एभिर्द्विरुक्तैर्युक्तान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । उपर्युपरि ग्रामम्, अधोऽधो ग्रामम्, अध्यधि ग्रामम् ।

(३४७) उपेन चोत्कृष्टे ॥ २ । ४ । ५५ ।

उत्कृष्टेऽर्थे वर्तमानादुपेन अनुना च युक्तान्नाम्नो द्वितीया स्यात् । उपसर्वज्ञं शूराः, अन्वाचार्यं साधवः, तस्माद्धीना इत्यर्थः ।

(३४८) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे ॥ २ । ४ । ५६ ।

काले अध्वनि च वर्तमानान्नाम्नो द्वितीया स्यात् अत्यन्तसंयोगे मासमधीते, क्रोशं पर्वतः ।

(३४९) अपवर्गे तृतीया ॥ २ । ४ । ५७ ।

अपवर्गः फलप्राप्तिः । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे तृतीया स्यात् अपवर्गे । मासेनावश्यकमधीतम्, क्रोशेन शाकुन्तलमधीतम् । अपवर्ग इति किम्—मासमधीतो नायातः ।

(३५०) कर्तृसाधनहेत्वित्थंभूतलक्षणेषु ॥ २ । ४ । ५८ ।

एष्वर्थेषु वर्तमानान्नाम्नस्तृतीया स्यात् । चैत्रेण कृतम्, दात्रेण लुनाति, दानेन कीर्तिः । केनचिद् विशेषेण भूतः—प्राप्तः इत्थंभूतः । कमण्डलुना छात्रमद्राक्षीत् ।

(३५१) सहार्थे ॥ २ । ४ । ५९ ।

सहार्थे गम्ये नाम्नस्तृतीया स्यात् । शिष्येण सह, साकम्, समम्,

सार्धम् वा गतो गुरुः ।

(३५२) येनाङ्गिविकारः ॥ २ । ४ । ६० ।

येन विकृतेनाङ्गेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततस्तृतीया स्यात् । अक्ष्णा काणः, पादेन खञ्जः ।

(३५३) निषेधार्थकृताद्यैः ॥ २ । ४ । ६१ ।

निषेधार्थैः कृतादिभिर्युक्तान्नाम्नस्तृतीया स्यात् । कृतं तेन, अलं श्रमेण, किं गतेन ।

(३५४) प्रकृत्यादय आख्यायाम् ॥ २ । ४ । २६ ।

प्रकृत्यादयः शब्दाः साधनसंज्ञकाः स्युः आख्यायां गम्यमानायाम् । साधनत्वात् तृतीया । प्रकृत्या चारुः, प्रायेण धार्मिकः, नाम्ना चैत्रः, जात्या क्षत्रियः, वर्णेन गौरः ।

(३५५) कर्मक्रियाभिप्रेयो दानपात्रम् ॥ २ । ४ । ३२ ।

कर्मणा क्रियया वा यमभिप्रेयते स कारकः दानपात्रसंज्ञः स्यात् ।

(३५६) दानपात्रे चतुर्थी ॥ २ । ४ । ६३ ।

दानपात्रसंज्ञकान्नाम्नश्चतुर्थी स्यात् । साधुभ्यो भिक्षां ददाति, गुरवे कार्यं निवेदयति । दानपात्रे इति किम्—रजकस्य वस्त्रं ददाति ।

(३५७) रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ॥ २ । ४ । ३३ ।

रुच्यर्थधातूनां योगे प्रीयमाणो योऽर्थस्तत्कारकं दानपात्रसंज्ञं स्यात् । मैत्राय रोचते मोदकः, चैत्राय स्वदते दधि ।

(३५८) श्लाघह्नुस्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः ॥ २ । ४ । ३४ ।

ज्ञीप्स्यमानो ज्ञापयितुमिष्यमाणः । श्लाघादीनां धातूनां योगे ज्ञीप्स्यमानो योऽर्थस्तत्कारकं दानपात्रसंज्ञं स्यात् । गुरवे श्लाघते,

ह्नुते, तिष्ठते, शपते वा । गुरुं ज्ञापयतीत्यर्थः ।

(३५९) क्रुध्द्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रतिकोपः ॥ २ । ४ । ३७ ।

क्रुधाद्यर्थानां धातूनां योगे यं प्रति कोपस्तत्कारकं दामपात्रसंज्ञं स्यात् । मैत्राय क्रुध्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति वा चैत्रः ।

(३६०) तादर्थ्ये ॥ २ । ४ । ६४ ।

तादर्थ्ये सम्बन्धविशेषद्योत्ये चतुर्थी स्यात् । घटाय मृत्तिका, कुण्डलाय हिरण्यम्, यूपाय दारु ।

(३६१) समर्थार्थनमःस्वस्तिस्वाहास्वधावषड्भिः ॥ २ । ४ । ६७ ।

एभिर्युक्तान्नाम्नश्चतुर्थी स्यात् । समर्थोऽलं शक्तः क्षमः प्रभुर्वा मल्लो मल्लाय । नमो जिनेन्द्राय, स्वस्ति पूज्याय, स्वाहा अग्नये, स्वधा पितृभ्यः, वषड् इन्द्राय । उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसीति नमस्करोति जिनान् ।

(३६२) गतेरप्राप्ते वा ॥ २ । ४ । ७० ।

गतेरप्राप्ते कर्मणि चतुर्थी वा स्यात् । गतिः पादविहरणम् । ग्रामं ग्रामाय वा गच्छति, नगरं नगराय वा व्रजति । गतेरिति किम्—आदित्यं पश्यति । अप्राप्ते इति किम्—ग्रामं गतः ।

(३६३) हितसुखाभ्याम् ॥ २ । ४ । ७२ ।

आभ्यां योगे चतुर्थी वा स्यात् । पक्षे शेषषष्ठी । ग्रामाय ग्रामस्य वा हितं सुखं वा ।

(३६४) अपायेऽवधिरपादानम् ॥ २ । ४ । ४२ ।

अपायो विश्लेषस्तत्र योऽवधिर्विवक्षितः तत्कारकमपादानसंज्ञं स्यात् ।

(३६५) पञ्चम्यपादाने ॥ २ । ४ । ७५ ।

अपादाने वर्तमानान्नाम्नः पंचमी स्यात् । ग्रामादायाति, धावतोऽश्वात्पतति, चोरेभ्यो बिभेति, यवेभ्यो गां निषेधयति, कूपादन्धं वारयति, अधर्माद् जुगुप्सते, धर्मात् प्रमाद्यति, उपाध्यायादन्तर्धत्ते, अध्ययनात् पराजयते ।

(३६६) प्रभृत्यन्यार्थाराद्दिक्शब्दैः ॥ २ । ४ । ८१ ।

एभिर्युक्तान्नाम्नः पंचमी स्यात् । कार्तिक्याः प्रभृति, आरभ्य ग्रीष्मात्, अन्यो मैत्रात्, भिन्नश्चैत्रात् । आराद् दूरसमीपयोः—आरात् ग्रामात्, पूर्वो ग्रीष्माद् वसन्तः, पश्चिमो रामात् युधिष्ठिरः ।

(३६७) पर्यपाभ्यां वर्जने ॥ २ । ४ । ७६ ।

आभ्यां युक्तात् वर्जनेऽर्थे वर्तमानान्नाम्नः पंचमी स्यात् । परि त्रिगर्तेभ्यः अपत्रिगर्तेभ्यो वा वृष्टो मेघः, त्रिगर्तं मुक्त्वा इत्यर्थः ।

(३६८) आङावधौ ॥ २ । ४ । ७७ ।

*आङा युक्तादवधौ वर्तमानान्नाम्नः पंचमी स्यात् । आबालेभ्यो जिनभक्तिः ।

(३६९) आख्यातर्युपयोगे ॥ २ । ४ । ७८ ।

आख्याता वक्ता । नियमपूर्वकविद्याध्ययनमुपयोगः । आख्यातृवाचिनो नाम्नः पञ्चमी स्यात् उपयोगविषये । उपाध्यायादधीते शिष्यः । उपयोगे इति किम्—नटस्य गाथां शृणोति ।

---

* ईषदर्थे क्रियायोगे, मर्यादाभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्या- द्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥१॥

(३७०) दूरान्तिकार्थबहिर्भिः ॥ २ । ४ । ८४ ।

एभिर्योगे नाम्नः पञ्चमी स्यात् । पक्षे षष्ठी । दूरम्, विप्रकृष्टम्, अन्तिकम्, सन्निकृष्टम्, बहिर्वा ग्रामात् ग्रामस्य वा ।

(३७१) शेषे ॥ २ । ४ । ८७ ।

कर्मादिभ्योऽन्यः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः । तत्र वर्तमानान्नाम्नः षष्ठी स्यात् । राज्ञः पुरुषः, गुरूणां वचनं पथ्यम् ।

(३७२) कर्तृकर्मणोः कृति ॥ २ । ४ । ८९ ।

कृत्प्रत्यययोगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी स्यात् । चैत्रस्य भोजनम्, मैत्रस्य पठनम्, विश्वस्य ज्ञाता, तीर्थस्य कर्ता, यवानां लावकः, ओदनस्य भोजकः ।

(३७३) उभयप्राप्तौ कर्तरि वा ॥ २ । ४ । ९० ।

उभयोः कर्तृकर्मणोः प्राप्तिर्यस्मिन् कृति तत्र कर्तरि षष्ठी वा स्यात् । शब्दानामनुशासनमाचार्येणाचार्यस्य वा ।

(३७४) तृन्नुदन्ताव्ययक्स्वानशतृक्तक्तवतुकिखलर्थानाम् ॥ २।४।९५।

तृन्नादिप्रत्ययसम्बन्धिनोः कर्तृकर्मणोः प्राप्ता षष्ठी न स्यात् । वदिता जनापवादान्, जिनं दिदृक्षुः, शत्रून् जिष्णुः, कटं कृत्वा, ओदनं भोक्तुम्, तपः तेपिवान्, शास्त्रं विद्वान्, घटं चक्राणः, पटं कुर्वन्, कटं कृतवान्, कटं चक्रिः, सुकरो घटस्त्वया । कारकषष्ठ्याः प्रतिषेधोऽयम् । सम्बन्धे तु षष्ठी स्यादेव । शत्रोर्जिष्णुः, चैत्रस्य कुर्वन् किङ्कर इत्यर्थः ।

(३७५) अकमेरुकस्य ॥ २ । ४ । ९६ ।

कमिवर्जितस्य उकप्रत्ययान्तस्य योगे कर्मणि षष्ठी न स्यात् ।

भोगानभिलाषुकः। अकर्मेरिति किम्—दास्याः कामुकः।

(३७६) द्विषः शतुर्वा ॥ २। ४। ६६।

शतृप्रत्ययान्तस्य द्विष्धातोः कर्मणि षष्ठी वा स्यात्। चौरस्य चौरं वा द्विषन्।

(३७७) क्तस्य वर्तमानाधारयोः ॥ २। ४। १००।

वर्तमाने आधारे चैव विहितस्य क्तस्य कर्तृकर्मणोः षष्ठी स्यात् नान्यत्र। राज्ञां मतः, इदमेषां शयितम्। वर्तमानाधारयोरिति किम् —कुलालेन घटः कृतः।

(३७८) भावे वा ॥ २। ४। १०१।

भावे विहितस्य क्तस्य कर्तरि षष्ठी वा स्यात्। छात्रस्य छात्रेण वा हसितम्।

(३७९) कृत्यानां कर्तरि वा ॥ २। ४। ६३।

कृत्यप्रत्ययानां प्रयोगे कर्तरि षष्ठी वा स्यात्। पक्षे तृतीया। कर्तव्यः, करणीयः, कृत्यः, कार्यो वा उद्यमो भवतः भवता वा।

(३८०) आधारे सप्तमी ॥ २। ४। १०२।

आधारे वर्तमानान्नाम्नःसप्तमी स्यात्। स च षोढा—औपश्लेषिकः, सामीप्यकः, अतिव्यापकः, वैषयिकः, नैमित्तिकः, औपचारिकश्च। कटे शेते, वटे गावः, तिलेषु तैलम्, दिवि देवाः, युद्धे सन्नह्यते, अङ्गुल्यग्रे करिशतम्।

(३८१) यस्य भावेन भावलक्षणम् ॥ ४। २। १०६।

भावः क्रिया। यस्य क्रियया अन्या क्रिया लक्ष्यते ततः सप्तमी स्यात्। वर्षति देवे चैत्रो गतः, गोषु दुह्यमानासु आगतः।

(३८२) षष्ठ्यनादरे ॥ २ । ४ । १११ ।

अनादरयुक्ते भावलक्षणे वर्तमानान्नाम्नः षष्ठी वा स्यात् । पक्षे पूर्वेण सप्तमी । रुदति रुदतो वा प्राव्राजीत् ।

(३८३) निमित्तात्कर्मसंयुक्तात् ॥ २ । ४ । १०८ ।

कर्मसंयुक्तान्निमित्तान्नाम्नः सप्तमी स्यात् ।

चर्मणि द्वीपिनं हन्ति, दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।
केशेषु चमरीं हन्ति, सीम्नि पुष्कलको हतः ॥ १ ॥

कर्मसंयुक्तादिति किम्—वेतनेन धान्यं लुनाति ।

(३८४) साध्वसाधुभ्याम् ॥ २ । ४ । १०५ ।

आभ्यां युक्तान्नाम्नः सप्तमी स्यात् । साधुर्मैत्रो मातरि, असाधुर्मातुले ।

(३८५) निर्धारणेऽविभागे सप्तमी च ॥ २ । ४ । ११२ ।

निर्धारणे वर्तमानान्नाम्नः षष्ठीसप्तम्यौ स्तः अविभागे गम्यमाने । नृणां नृषु वा क्षत्रियः शूरः, गवां गोषु वा कृष्णा बहुक्षीरा, गच्छतां गच्छत्सु वा धावन्तः शीघ्रतमाः । अविभागे इति किम्—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः ।

(३८६) स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैर्वा ॥ २ । ४ । ११३ ।

एभिर्युक्तान्नाम्नः सप्तमी वा स्यात् । पक्षे शेषषष्ठी । गवां गोषु वा स्वामी, ईश्वरः, अधिपतिः, दायादः, साक्षी, प्रतिभूः, प्रसूतो वा ।

(३८७) तुल्यार्थैस्तृतीयाषष्ठ्यौ ॥ २ । ४ । १२२ ।

जिनेन जिनस्य वा तुल्यः, समः, सदृशो वा कालुरामाचार्यः ।

(३८८) ऋते द्वितीयापञ्चम्यौ ॥ २ । ४ । १२४ ।

ऋते वर्जनार्थकमव्ययम् । तद्योगे नाम्नो द्वितीयापञ्चम्यौ स्तः । ऋते धर्मं धर्माद् वा कुतः सुखम् ।

(३८९) विना तृतीया च ॥ २ । ४ । १२५ ।

विना शब्देन युक्तान्नाम्नस्तृतीया द्वितीयापञ्चम्यौ च स्याताम् । विना पापेन पापं पापाद् वा सर्वं फलति ।

(३९०) दूरान्तिकार्थादसत्त्वात्सप्तमी ताश्च ॥ २ । ४ । १२६ ।

दूरान्तिकार्थादसत्त्ववाचिनः सप्तमी द्वितीयातृतीयापञ्चम्यश्च स्युः । दूरे, दूरम्, दूरेण, दूरात् वा ग्रामात् ग्रामस्य वा वसति । एवं विप्रकृष्टात्, अन्तिकात्, सन्निकृष्टादपि ।

(३९१) हेत्वर्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २ । ४ । १२७ ।

हेतुर्निमित्तम् । तदर्थैः शब्दैर्युक्तात् तैरेव समानाधिकरणात् नाम्नस्तृतीयाद्या विभक्तयः स्युः । धनेन हेतुना, धनाय हेतवे, धनाद्धेतोः, धनस्य हेतोः, धने हेतौ वा वसति । एवं निमित्तकारणप्रयोजनादयः प्रयोक्तव्याः ।

(३९२) सर्वादेश्च सर्वाः ॥ २ । ४ । १२८ ।

हेत्वर्थैर्युक्तात् तैरेव समानाधिकरणात् सर्वादेर्नाम्नः सर्वा विभक्तयः स्युः । को हेतुः, कं हेतुम्, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद्धेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ वा वसति । एवं निमित्तादीनां योगेऽपि ।

कर्ता कर्म तथा चोक्तं, साधनं तु तृतीयकम् ।
दानपात्रमपादान-माधारःकारकाणि षट् ॥ १ ॥

अथ समास-प्रकरणम्

समासेषु अव्ययीभावः

(३६३) नाम नाम्नैकार्थ्ये समासो बहुलम् ॥ ३ । १ । १६ ।

नाम नाम्ना सहैकार्थ्ये सति *बहुलं समस्यते । स च समाससंज्ञकः स्यात् । स चतुर्धा—अव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिद्वन्द्वभेदात् । द्विगुकर्मधारयौ तत्पुरुषभेदावेव ।

(३६४) अव्ययं कारकसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसंप्रतिख्यातिपश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तेषु पूर्वार्थे ॥ ३ । १ । २३ ।

कारकाद्यर्थेषु यदव्ययं तन्नाम्ना सह ऐकार्थ्ये सति पूर्वपदार्थे समस्यते सोऽव्ययीभावसमासः स्यात् । स्त्री+सुप्+अधि इत्यलौकिके विग्रहवाक्ये सप्तम्यर्थद्योतकमधि अव्ययं स्त्रीनाम्ना सह समस्तम् ।

(३६५) समासप्रत्यययोः ॥ ३ । २ । ६ ।

---

* क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः, क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥ १ ॥

समासे सति प्रत्यये च परे विभक्तेर्लुक् स्यात् । इति विभक्तेर्लुकि सति स्त्री अधि इति स्थिते ।

(३९६) प्रथमोक्तं प्राक् ॥ ३ । १ । १५६ ।

अत्र समासमात्रे सूत्रे प्रथमान्तपदेन यदुक्तं तत्प्राक् प्रयोक्तव्यम् ।

अव्ययीभावञ्णिन्नन्ते, कृत्यक्तानखलन्तकम् ।
त्वाद्यन्तंत्वमभिव्याप्य, भावे द्वन्द्वैकता तथा ॥ १ ॥

इति लिङ्गानुशासनात् नपुंसकत्वम् । नपुंसके इति ह्रस्वे—अधिस्त्रि ।

(३९७) अनतो लुक् ॥ ३ । २ । ५ ।

अव्ययीभावात् स्यादेर्लुक् स्यात् न त्वदन्तात् । इति सर्वत्र समानरूपाणि । एवं कुमार्यामिति—अधिकुमारि ।

समीपे—कुम्भस्य समीपमिति विग्रहे ।

(३९८) अव्ययीभावस्यातोऽमपञ्चम्याः ॥ ३ । २ । २ ।

अदन्ताव्ययीभावात् स्यादेरमादेशः स्यात् पञ्चमीं त्यक्त्वा । उपकुम्भं तिष्ठति, पश्यति देहि वा सर्वत्राऽम् । अपञ्चम्या इति किम्—उपकुम्भात् ।

(३९९) वा तृतीयासप्तम्योः ॥ ३ । २ । ३ ।

अदन्ताव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योरमादेशो वा स्यात् । उपकुम्भम् उपकुम्भेन वा कृतम् । उपकुम्भम्, उपकुम्भे वा स्थितम् । एवं मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम्, निद्रा सम्प्रति न युज्यते इत्यतिनिद्रम्, मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । अत्ययो विनाशः । हिमस्य अत्ययः अतिहिमम्, यवनानामसंपत्तिर्दुर्यवनम्, भिक्षोः ख्यातिरितिभिक्षु, जिनस्य पश्चात् अनुजिनम्, रूपस्य योग्यम् अनुरूपं चेष्टते । बहूनां सजातीयानां

क्रियादिना साकल्येन व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति।

(४००) अकालेऽव्ययीभावे ॥ ३। २। १२७।

अव्ययीभावे सहस्य सादेशः स्यात् अकालवाचिन्युत्तरपदे। शीलस्य सादृश्यं सशीलमनयोः, व्रतेन सदृशमिति सव्रतम्, चक्रेण सह गदां धेहीति सचक्रम्, ज्येष्ठस्यानुक्रमेण इति अनुज्येष्ठम्, क्षत्राणां संपत्तिरिति सक्षत्रम्, सतृणमभ्यवहरति, न किञ्चित्त्यजतीत्यर्थः, सपिण्डैषणमधीते, पिण्डैषणापर्यन्तमधीते इत्यर्थः।

(४०१) यथाऽसादृश्ये ॥ ३। १। २४।

असादृश्येऽर्थे यथा इत्यव्ययं समस्यते सोऽव्ययीभावसमासः स्यात्। यथावृद्धमर्चय, ये ये वृद्धास्तानित्यर्थः। असादृश्ये इति किम्—यथा ऋषभस्तथा वीरः।

(४०२) शरदादेरव्ययीभावात् ॥ ८। ३। २७।

शरदाद्यन्तादव्ययीभावाट्टः समासान्तः स्यात्। उपशरदम्, उपत्यदम्। अव्ययीभावस्य नपुंसकलिङ्गत्वाट्टान्तस्य स्त्रियां वृत्तिर्न।

(४०३) जराया जरश्च ॥ ८। ३। २६।

जराशब्दान्तादव्ययीभावाट्टः स्यात् जराया जरसादेशश्च। उपजरसम्, प्रतिजरसम्। राज्ञः समीपमित्यत्र तु—

(४०४) अनः ॥ ८। ३। ३१।

अन्नन्तादव्ययीभावाट्टः स्यात्।

(४०५) वृत्त्यन्तः ॥ १। १। २६।

वृत्तिः पदसमुदायसमासादिरूपा। तस्या अन्तः पदसंज्ञो न स्यात्।

अन्तर्वर्तिन्या विभक्तेः स्थानिवद्भावेन उभयत्र पदत्वे प्राप्ते अन्त्यस्य निषेधार्थं वचनम् ।

(४०६) नोऽपदस्य तद्धिते ॥ ८ । ४ । ६२ ।

अपदस्य नान्तस्य टेर्लोपः स्यात् तद्धिते । उपराजम्, उपतक्षम्, प्रत्यात्मम् ।

इत्यव्ययीभावः

अथ तत्पुरुषः

(४०७) श्रितादिभिः ॥ ३ । १ । ४५ ।

द्वितीयान्तं नाम श्रितादिभिः सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात् । जिनं श्रितः—जिनश्रितः । एवं संसारातीतः, नरकपतितः, ग्रामगतः, नरकगामीत्यादिः । पक्षे वाक्यमेव ।

(४०८) ऊनार्थपूर्वादिभिः ॥ ३ । १ । ५० ।

तृतीयान्तं नाम ऊनार्थैः पूर्वादिभिश्च सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात् । मासेनोनम्—मासोनम्, मासविकलम्, मासपूर्वः, वाग्निपुणः, धान्यार्थः इत्यादि ।

(४०९) कर्तृसाधने कृता ॥ ३ । १ । ५२ ।

कर्तरि साधने च यत्तृतीयान्तं नाम तत् कृदन्तेन सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात् । आत्मना कृतम्—आत्मकृतम्, अहिदष्टः, नखभिन्नः, परशुच्छिन्नः ।

(४१०) तुमूक्त्वाक्तवतुभिः ॥ ३ । १ । ५५ ।

तृतीयान्तं नाम एभिः सह न समस्यते । पूर्वापवादः । परशुना छेत्तुम्, परशुना छित्त्वा, दात्रेण लूनवान् ।

(४११) चतुर्थी प्रकृत्या ॥ ३ । १ । ५६ ।

चतुर्थ्यन्तं नाम प्रकृतिवाचिना सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। प्रकृतिर्मूलकारणम्। घटाय मृत्तिका—घटमृत्तिका। एवं कुण्डलहिरण्यम्, यूपदारु।

(४१२) हितादिभिः ॥ ३ । १ । ५७ ।

चतुर्थ्यन्तं नाम हितादिभिः सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। साधुभ्यो हितम्—साधुहितम्, श्राद्धसुखम्, भूतबलिरित्यादि।

(४१३) पञ्चमी भयादिभिः ॥ ३ । १ । ६० ।

पञ्चम्यन्तं नाम भयादिभिः सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। व्याघ्राद् भयम्—व्याघ्रभयम्, वृकभीतिः, ग्रामनिर्गतः, चक्रमुक्तः।

(४१४) षष्ठ्ययत्नाच्छेषे ॥ ३ । १ । ६३ ।

शेषे या षष्ठी तदन्तं नाम नाम्ना सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। न चेत् स शेषो यत्नाद् विहितः स्यात्। राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, गवां क्षीरम्—गोक्षीरम्। अयत्नादिति किम्—मातुः स्मारकः। शेषे इति किम्—रुदतः प्रव्रजितः, नराणां क्षत्रियः शूरः।

(४१५) कृति ॥ ३ । १ । ६४ ।

कृत्प्रत्ययनिमित्ता या षष्ठी तदन्तं नाम नाम्ना सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। सिद्धसेनस्य कृतिः—सिद्धसेनकृतिः, गणधरोक्तिः, पलाशशातनः।

(४१६) पूरणशतृशानाव्ययतृप्तार्थैः ॥ ३ । १ । ७४ ।

एभिः सह षष्ठ्यन्तं नाम न समस्यते। तीर्थङ्कराणां षोडशः शान्तिः,

चैत्रस्य पठन्, मैत्रस्य पचमानः, चैत्रस्य कृत्वा, फलानां तृप्तः, सुहितो वा। सर्वत्र सम्बन्धे षष्ठी।

(४१७) सप्तमी शौण्डादिभिः ॥ ३। १। ७७।

सप्तम्यन्तं नाम शौण्डादिभिः सह वा समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः, शिरःशेखरः, हस्तकटक इत्यादि।

(४१८) काकादिभिः क्षेपे ॥ ३। १। ७८।

तीर्थे काक इव तीर्थकाकः। एवं तीर्थवायसः, तीर्थश्वा। उपमया चात्र क्षेपो गम्यते। क्षेप इति किम्—तीर्थे काकस्तिष्ठति।

(४१९) सिंहादिभिः पूजायाम् ॥ ३। १। ७९।

समरे सिंह इव—समरसिंहः, रणव्याघ्रः, कलिगौतमः।

(४२०) नञ्तत्पुरुषः ॥ ३। १ ३४।

नञिति नाम्ना सह समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात्।

(४२१) नञत् ॥ ३। २। ९७।

नञ अकारादेशः स्यात् उत्तरपदे। न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः, असाधुः, अहिंसा, असत्यम्।

(४२२) अन् स्वरे ॥ ३। २। १०१।

नञित्यस्य अनादेशः स्यात् स्वरादावुत्तरपदे। न अश्वः—अनश्वः, अनजः, अनन्तः।

(४२३) नखादयः ॥ ३। २। १००।

नखादयः शब्दा अकृतनञाकाराद्यादेशा निपात्यन्ते। नास्य खं विद्यते इति नखः, न गच्छतीति नगः। एवं नकुलः, नपुंसकः, नक्षत्रम् नक्रः, नाकः, नग्नः इत्यादि।

(४२४) सप्तम्युक्तं कृता ॥ ३ । १ । ६८ ।

कृत्प्रत्ययविधायके सूत्रे सप्तम्यन्तेन यदुक्तं तत्सप्तम्युक्तम् । सप्तम्युक्तं नाम कृदन्तेन सह नित्यं समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात् । कुम्भं करोतीति कुम्भकारः, शरलावः ।

(४२५) ऊर्याद्यनुकरणोपसर्गच्विडाचो गतिर्धातोः प्राक् च ॥ ३ । १ । १ ।

ऊर्यादयः शब्दा गतिसंज्ञकाः स्युः धातोश्च प्रागेव प्रयुज्यन्ते ।

(४२६) गतिः ॥ ३ । १ । ८७ ।

गतिसंज्ञकं नाम नाम्ना सह नित्यं समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात् । विहारः, प्रहारः, व्याघ्रः ।

(४२७) कुः पापाल्पयोर्नित्यम् ॥ ३ । १ । ८६ ।

पापे अल्पे चार्थे कुरिति नित्यं समस्यते स तत्पुरुषसमासः स्यात् । कुत्सितो ब्राह्मणः—कुब्राह्मणः ।

(४२८) कोः कत्तत्पुरुषे ॥ ३ । २ । १०२ ।

स्वरादावुत्तरपदे परे कुशब्दस्य कदादेशः स्यात्तत्पुरुषे । कुत्सितमन्नम्—कदन्नम्, कदश्वः ।

(४२९) अल्पे ॥ ३ । २ । १०६ ।

अल्पेऽर्थे कुशब्दस्य कादेशः स्यादुत्तरपदे परे । ईषन् मधुरम्—कामधुरम् ।

(४३०) पुरुषे वा ॥ ३ । २ । १०७ ।

कुत्सितः पुरुषः—कापुरुषः, कुपुरुषः ।

(४३१) कवोश्चोष्णे ॥ ३ । २ । १०८ ।

कुशब्दस्य कव, का इत्यादेशौ वा स्तः उष्णे परे। पक्षे यथाप्राप्तम्। ईषदुष्णम्—कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम्।

(४३२) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥ ३ । १ । ६२ ।

प्रादयः शब्दा गताद्यर्थे प्रथमान्तेन सह समस्यन्ते स तत्पुरुषसमासः स्यात्। प्रगतः आचार्यः—प्राचार्यः, संगतोऽर्थः—समर्थः, विरुद्धः पक्षः—विपक्षः, प्रत्यर्थी पक्षः—प्रतिपक्षः इत्यादि।

(४३३) अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥ ३ । १ । ६३ ।

अतिक्रान्तः खट्वामिति विग्रहे।

(४३४) अन्यार्थे स्त्रीप्रत्ययगोरन्त्यस्याऽक्विपोऽनंशिसमासेयोबहुव्रीहौ ॥ २ । ३ । ११५ ।

अन्यार्थे वर्तमानस्य अन्त्यस्य स्त्रीप्रत्ययस्य गोशब्दस्य च ह्रस्वादेशः स्यात् न तु क्विबन्तस्य न चेदंशिसमासान्त ईयस्वन्तबहुव्रीह्यन्तो वा स्यात्। अतिखट्वः। एवमतिमालः, अतिगङ्गः, प्रतिगतोऽक्षम्— प्रत्यक्षः इत्यादि।

(४३५) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥ ३ । १ । ६४ ।

अवक्रुष्टम् कोकिलया—अवकोकिलम्, अनुगतमर्थेन—अन्वर्थम्, संगतमक्षेण—समक्षम्, वियुक्तमर्थेन—व्यर्थम् इत्यादि।

(४३६) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥ ३ । १ । ६५ ।

परिग्लानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः, अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः इत्यादि।

(४३७) निरादयो गताद्यर्थे पञ्चम्या ॥ ३ । १ । ६६ ।

निर्गतः कौशाम्ब्याः—निष्कौशाम्बिः, अपगतः शाखायाः—अपशाखः, उत्क्रान्तं कुलात्—उत्कुलम्। एवमुच्छृङ्खलादयः।

(४३८) पूर्वापराधरोत्तरमभिन्नेनांशिना ॥ ३ । १ । ३५ ।

पूर्वादयः शब्दा अभिन्नेनांशिना सह वा समस्यन्ते तत्पुरुषश्च समासः स्यात् । पूर्वः कायस्य—पूर्वकायः । एवमपरकायः, अधरकायः, उत्तरकायः । अभिन्नेनेति किम्—पूर्वश्छात्राणाम् ।

(४३९) अर्धं समेंऽशे वा ॥ ३ । १ । ३७ ।

समांशवाच्यर्धशब्दो वा समस्यते समासश्च प्राग्वत् । अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली । पक्षे पिप्पल्यर्धमिति षष्ठीसमासोऽपि । समेंऽशे इति किम्—ग्रामार्धः ।

(४४०) सायाह्नादयः ॥ ३ । १ । ३६ ।

एते कृततत्पुरुषसमासा निपात्यन्ते । सायमह्नः,—सायाह्नः, मध्याह्नः, मध्यरात्र इत्यादि ।

(४४१) विशेषणं विशेष्येण तुल्यार्थे कर्मधारयश्च ॥ ३ । १ ।१००।

विशेषणवाचि नाम विशेष्यवाचिनाम्ना सह तुल्यार्थे वा समस्यते स कर्मधारयः तत्पुरुषश्च समासः स्यात् । नीलं च तद् उत्पलं च नीलोत्पलम् । एवं रक्तकम्बलः ।

(४४२) पुंवत् कर्मधारये ॥ ३ । २ । ६१ ।

भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाः पुंवत् स्यात् कर्मधारये । एका शाटी—एकशाटी, रक्तलता, ब्राह्मणभार्या, चन्द्रमुखभार्या ।

(४४३) अच्वेस्तुल्यार्थजातीययोः ॥ ३ । २ । ७१ ।

अच्व्यन्तस्य महच्छब्दस्य डा इत्यादेशः स्यात् तुल्यार्थे जातीयप्रत्यये च परे । महावीरः, महापुरुषः, महादेवः । अच्वेरिति किम्—अमहान्महान्भूतो महद्भूतश्चन्द्रमाः ।

(४४४) शाकपार्थिवादीनां मध्यमपदलोपश्च ॥ ३ । १ । ११० ।

एषां मध्यमपदस्य लोपः स्यात् कर्मधारयश्च समासः । शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः, देवानां पूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः ।

(४४५) कुत्सितानि कुत्सनैरपापाद्यैः ॥ ३ । १ । १०२ ।

कुत्सितवाचि नाम पापादिवर्जितैः कुत्सनवाचिभिः सह तुल्यार्थे वा समस्यते कर्मधारयश्च समासः स्यात् । मुनिश्चासौ धूर्तश्च—मुनिधूर्तः, क्षत्रियभीरुः, वैयाकरणखसूचिः । अपापाद्यैरिति किम्—पापवैयाकरणः, दुष्टामात्यः, क्षुद्रतापसः ।

(४४६) उपमानानि सामान्यैः ॥ ३ । १ । १०३ ।

उपमानोपमेययोः साधारणो धर्मः सामान्यम् । उपमानवाचि नाम सामान्यवाचिभिर्नामभिः सह वा समस्यते समासश्च पूर्ववत् । घन इव श्यामः—घनश्यामः, मृगचपला । सामान्यैरिति किम्—अग्निरिव माणवकः ।

(४४७) उपमेयानि व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे ॥ ३ । १ ।१०४।

पुरुषो व्याघ्र इव—पुरुषव्याघ्रः, पुरुषसिंहः, पुरुषवृषभः । सामान्याप्रयोगे इति किम्—पुरुषो व्याघ्र इव शूरः ।

(४४८) अधिकं च तद्धितोत्तरपदसमाहारेषु ॥ ३ । १ । १२३ ।

तद्धितविषये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये अधिकशब्दो दिक्संख्ये च तुल्यार्थे वा समस्यन्ते समासश्च प्राग्वत् । अधिकया षष्ट्या क्रीतः अधिकषाष्टिकः । पूर्वस्यां शालायां भवः पौर्वशालः ।

(४४९) संख्यापूर्वो द्विगुश्च ॥ ३ । १ । १२४ ।

पूर्वसूत्रोक्तः संख्यापूर्वः समासः द्विगुसंज्ञकोऽपि स्यात् । पञ्चसु

कपालेषु संस्कृतः पञ्चकपालः*। अधिकं धनं प्रियं यस्य सः अधिकधनप्रियः। एवं पूर्वराष्ट्रप्रियः। पञ्चग्रामधनः। अनेकस्य कथंचिदेकत्वं समाहारः। समाहारे दिगधिकौ न संभवतः। पञ्चानां पात्राणां समाहारः पञ्चपात्रम्।

(४५०) सखेष्टः ॥ ८ । ३ । ६ ।

सखिशब्दान्तात्तत्पुरुषाट्टः स्यात्।

(४५१) इवर्णावर्णस्य ॥ ८ । ४ । ७१ ।

इवर्णस्य अवर्णस्य चाऽपदसंज्ञकस्य लोपः स्यात् तद्धिते परे। राजसखः, महासखः, पञ्चसखः।

(४५२) राज्ञोऽस्त्रियाम् ॥ ८ । ३ । ७ ।

राजन्शब्दान्तात् तत्पुरुषात् टः स्यात् न तु स्त्रियाम्। देवराजः, महाराजः। अस्त्रियामिति किम्—महाराज्ञी।

(४५३) किं क्षेपे ॥ ३ । १ । ११४ ।

किम्शब्दस्तुल्यार्थे नाम्ना सह समस्यते क्षेपे तत्पुरुषकर्मधारयश्च समासः स्यात्। को राजा इति विग्रहे—समासान्ते टे प्राप्ते।

(४५४) न किमः क्षेपे ॥ ८ । ३ । २ ।

क्षेपे वर्तमानात् किम्शब्दात् परः समासान्तो न स्यात्। किं राजा यो न रक्षति। एवं किं सखा योऽभिद्रुह्यति। क्षेपे इति किम्—केषां राजा किंराजः, किंसखः।

(४५५) नञ्स्तत्पुरुषात् ॥ ८ । ३ । ५ ।

* 'संस्कृते भक्ष्यं' इत्यण्, तस्य द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुगद्विरिति लुक् च।

नञ्‌पूर्वात् तत्पुरुषात् समासान्तो न स्यात्। न राजा—अराजा, असखा।

(४५६) अह्नः ॥ ८ । ३ । ८ ।

अहन्शब्दान्तात् तत्पुरुषात् टः स्यात्। परमाहः, उत्तमाहः।

(४५७) सर्वांशसंख्याव्ययात् ॥ ८ । ३ । १० ।

एभ्यः परो यः अहन्शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषात् टः स्यात् तस्य च अह्लादेशः।

(४५८) अतोऽह्नस्य ॥ २ । २ । ७७ ।

अदन्तात् पूर्वपदस्थात् निमित्तात्परस्य अह्लस्य नस्य णः स्यात्। सर्वाह्णः, पूर्वाह्णः।

(४५९) सर्वांशसंख्यातपुण्यवर्षादीर्घाच्च रात्रेः ॥ ८ । ३ । ५५ ।

एभ्यः संख्याव्ययेभ्यश्च परो यो रात्रिशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषात् अः स्यात्। सर्वरात्रः, पूर्वरात्रः, अपररात्रः, संख्यातरात्रः, पुण्यरात्रः, वर्षारात्रः, दीर्घरात्रः, द्विरात्रः, अतिरात्रः।

इति तत्पुरुषः

अथ बहुव्रीहिः

(४६०) तुल्यार्थं चानेकं च ॥ ३ । १ । १२८ ।

एकमनेकं च तुल्यार्थं नाम अव्ययं च नाम्ना सह द्वितीयाद्यन्यार्थे समस्यते स च बहुव्रीहिसमासः स्यात्। आरूढो वानरो यमिति विग्रहे।

(४६१) शेषे ॥ ३ । १ । १६८ ।

प्रहरणादन्यत्र शेषः। शेषे बहुव्रीहिसमासे क्तप्रत्ययान्तं नाम

प्राग्निपतति। आरूढवानरो वृक्षः, ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान्, उपहृतो बलिर्यस्मै स उपहृतबलिर्यक्षः, भीताः शत्रवो यस्मात् स भीतशत्रुर्नृपः। चित्रा गावो यस्येति विग्रहे।

(४६२) विशेषणम्॥ ३। १। १६१।

बहुव्रीहिसमासे विशेषणं प्राग् निपतति।

(४६३) पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियास्तुल्यार्थे स्त्रियाम्॥ ३। २। ४८।

भाषितपुंस्कात्परस्य ऊङ्वर्जितस्त्रीप्रत्ययस्य पुंवत् स्यात् तुल्यार्थे स्त्रीलिङ्गे परे।

'अन्यार्थे स्त्रीप्रत्यय' इत्यादिना गोशब्दस्य ह्रस्वे, सन्ध्यक्षराणां ह्रस्वादेशे स्थानसाम्यादिदुतौ। चित्रगुः। एवं दर्शनीयभार्यः, पटुभार्यः, शोभनभार्यः, वीराः पुरुषाः सन्ति यस्मिन् स वीरपुरुषो ग्रामः। अनेकं च—आरूढा बहवो वानरा यं स आरूढबहुवानर इत्यादि। अव्ययम्—उच्चैर्मुखमस्य स उच्चैर्मुखः। एवं नीचैर्मुखः।

(४६४) हंसगमनादयः॥ ३। १। १२६।

हंसगमनादयः शब्दा बहुव्रीहिसमासान्ता निपात्यन्ते। हंसस्य गमनमिव गमनं यस्या सा हंसगमना। एवं चन्द्रवदना, उष्ट्रमुखः, वृषस्कन्धः इत्यादि।

(४६५) तेन सहः॥ ३। १। १३०।

सहेति नाम तृतीयान्तेन सह वा समस्यते अन्यार्थे स च बहुव्रीहि स्यात्।

(४६६) सहस्य सो वा बहुव्रीहौ॥ ३। २। १२४।

उत्तरपदे परे बहुव्रीहौ सहस्य सादेशो वा स्यात् । सह पुत्रेणेति सहपुत्रः सपुत्रो वा, सधनः, सहधनः, समदः सहमदः ।

(४६७) सर्वादिश्च बहुव्रीहौ ॥ ३ । १ । १६० ।

बहुव्रीहिसमासे सर्वादिः संख्या च प्राग्निपतति । सर्वशुक्लः, विश्वमित्रः, चतुर्ह्रस्वः, पञ्चदीर्घः ।

(४६८) सप्तम्यन्तम् ॥ ३ । १ । १६३ ।

बहुव्रीहिसमासे सप्तम्यन्तं प्राग्निपतति । हंसगमनादित्वात् समासः कण्ठेकालः, उदरेमणिः, उरसिलोमा । अत्र सप्तम्या अलुक् ।

(४६९) नेन्द्वादिभ्यः ॥ ३ । १ । १६५ ।

बहुव्रीहिसमासे इन्द्वादिभ्यः सप्तम्यन्तं प्राग् न निपतति । इन्दुर्मौलौ यस्य स इन्दुमौलिः, शशिशेखरः, पद्महस्तः ।

(४७०) प्रहरणेभ्यः ॥ ३ । १ । १६६ ।

प्रहरणवाचिभ्यः सप्तम्यन्तं प्राग् न निपतति । दण्डपाणिः, चक्रपाणिः, वज्रपाणिः, धनुर्हस्तः ।

(४७१) स्वाङ्गादीपो जातेश्चामानिनि ॥ ३ । २ । ६० ।

स्वाङ्गात् परस्येपः जातेश्च स्त्रियाः प्राप्तः पुंवन्न स्यात् अमानिन्युत्तरपदे । चन्द्रमुखीभार्यः, दीर्घकेशीभार्यः, ब्राह्मणीभार्यः, शूद्राभार्यः । अमानिनीति किम्—दीर्घकेशमानिनी ।

(४७२) द्विपदाद्धर्मादन् ॥ ८ । ३ । ७४ ।

धर्मशब्दान्तात् द्विपदाद् बहुव्रीहेरन् स्यात् । सुधर्मा, कल्याणधर्मा । द्विपदादिति किम्—परमस्वधर्मः ।

(४७३) उपसर्गात् ॥ ८ । ३ । ८५ ।

उपसर्गात्परस्य नासिकाया बहुव्रीहौ नस इत्यादेशः स्यात् । प्रगता नासिका अस्येति अनेन नसादेशे ।

(४७४) नसस्य ॥ २ । २ । ७५ ।

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नसस्य नस्य णः स्यात् । प्रणसंमुखम्, निर्णसं मुखम् ।

(४७५) जायाया जानिः ॥ ८ । ३ । ८८ ।

जायाशब्दस्य बहुव्रीहौ जानिरादेशः स्यात् । युवजानिः ।

(४७६) सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥ ८ । ३ । १०४ ।

सुहृन्मित्रम्, दुर्हृदमित्रः । अन्यत्र सुहृदयो मुनिः ।

(४७७) स्त्रियामिनः ॥ ८ । ३ । १०८ ।

इन्नन्ताद् बहुव्रीहेः कप् स्यात् स्त्रियाम् । बहुदण्डिका सेना, बहुस्वामिका पुरी ।

(४७८) ऋन्नित्यदितः ॥ ८ । ३ । १०६ ।

ऋकारान्तान्नित्यं दिदादेशो यस्मात्तदन्ताच्च बहुव्रीहेः कप् स्यात् । बहुकर्तृकः । बह्व्यः कुमार्यो यस्य इत्यत्र तु—

(४७९) ईयादीदूतां के ॥ २ । ३ । १०६ ।

एषां ह्रस्वः स्यात् कप्रत्यये परे । इतीपो ह्रस्वे प्राप्ते ।

(४८०) न कपि ॥ २ । ३ । ११० ।

पूर्वेण प्राप्तो ह्रस्वो न स्यात् कपि परे । बहुकुमारीकः ।

इति बहुव्रीहिः

अथ द्वन्द्वः

(४८१) चार्थे द्वन्द्वः सहोक्तौ ॥ ३ । १ । १३३ ।

सहोक्तिविषये चार्थे वर्तमानं नाम नाम्ना सह वा समस्यते स च द्वन्द्वसमासः स्यात्। समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः। तत्र परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्य क्रियाकारकादेरेकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। चैत्रः पचति पठति च, चैत्रो मैत्रश्च पठति। समुच्चये एवान्यतरस्य गौणत्वेऽन्वाचयः। वटो! भिक्षामट गां चानय। मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। चैत्रश्च मैत्रश्च चैत्रमैत्रौ गच्छतः। संहृतिः समाहारः। समाहारे एकवद्भावः। धवश्च खदिरश्च पलाशश्च धवखदिरपलाशं तिष्ठति। अत्राद्ययोः सहोक्त्यभावात् समासो न।

(४८२) द्वन्द्वे लघ्वक्षरमेकम् ॥ ३ । १ । १६८ ।

द्वन्द्वे लघ्वक्षरं नाम प्राग् निपतति यत्र चानेकं तत्रैकमेव। तिलमाषौ, घटशङ्खपटाः, पटशङ्खघटाः।

(४८३) इदुदन्तमसखि ॥ ३ । १ । १७० ।

पतिसुतौ, पटुगुप्तौ। असखीति किम्—सुतसखायौ।

(४८४) स्वराद्यदन्तम् ॥ ३ । १ । १७३ ।

अश्वखरौ, इन्द्रचन्द्रौ।

(४८५) अल्पस्वरम् ॥ ३ । १ । १७६ ।

धवखदिरौ, वागर्थौ।

(४८६) अर्चितम् ॥ ३ । १ । १७६ ।

देवदैत्यौ, मातापितरौ।

(४८७) मासर्तुभ्रातृनक्षत्राण्यानुपूर्व्येण ॥ ३ । १ । १८२ ।

इत्येतद्वाचिशब्दरूपमानुपूर्व्येण प्राग् निपतति द्वन्द्वे। फाल्गुनचैत्रौ, हेमन्तवसन्तौ, बलदेववासुदेवौ, कृत्तिकारोहिण्यौ।

(४८८) वर्णाः ॥ ३ । १ । १८७ ।

द्वन्द्वे वर्णवाचीन्यानुपूर्व्येण प्राग् निपतन्ति। ब्राह्मणक्षत्रियौ, विट्शूद्रौ। पूर्वोक्तानां पूर्वनिपातः क्वचिद्वा। गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ, धर्मार्थौ, अर्थधर्मौ, समीरणाग्नी, अग्निसमीरणौ, वसन्तग्रीष्मौ, ग्रीष्मवसन्तौ, भीमसेनार्जुनौ, अर्जुनभीमसेनौ। क्वचिन्न—जायापती, जंपती, दंपती, भार्यापती, पुत्रपती, शूद्रार्यौ, उलूखलमूसले, नरनारायणौ, पाण्डुधृतराष्ट्रौ, पुष्यपुनर्वसू।

(४८९) नित्यवैरिणाम् ॥ ३ । १ । १५२ ।

एषां द्वन्द्व एकत्वं स्यात्। अहिनकुलम्, अश्वमहिषम्, मार्जारमूषकम्।

(४९०) विरोधिनामद्रव्याणाम् ॥ ३ । १ । १६० ।

अद्रव्यवृत्तीनां विरोधिवाचिनां द्वन्द्वमेकत्वं वा स्यात्। सुखदुःखम्, सुखदुःखे, लाभालाभम्, लाभालाभौ। विरोधिनामिति किम्—कामक्रोधौ। अद्रव्याणामिति किम्—शीतोष्णे जले।

(४९१) आ द्वन्द्वे ॥ ३ । २ । ३९ ।

विद्यायोनिसम्बन्धिनामृकारान्तानां द्वन्द्वे उत्तरपदे परे आकारादेशः स्यात्। होतापोतारौ, मातापितरौ।

(४९२) पुत्रे ॥ ३ । २ । ४० ।

मातापुत्रौ, पितापुत्रौ।

इति द्वन्द्वः

अथ अलुक्-समासः

(४९३) आत्मनः पूरणे ॥ ३ । २ । १४ ।

आत्मनः परस्य तृतीयाया लुग् न स्यात् पूरणप्रत्ययान्ते परे। आत्मनाचतुर्थः, आत्मनाषष्ठः। पूर्वादित्वात् समासः।

(४६४) परात्मभ्यां चतुर्थ्याः ॥ ३ । २ । १७ ।

आभ्यां परस्याश्चतुर्थ्या लुग् न स्यात् संज्ञायामुत्तरपदे परे। परस्मैपदम्, आत्मनेपदम्। हितादित्वात्समासः।

(४६५) मूर्खे देवानां प्रियः ॥ ३ । २ । ३४ ।

अन्यत्र देवप्रियः।

(४६६) अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे ॥ ३ । २ । २१ ।

मूर्धमस्तकवर्जिताददन्तात् हसान्ताच्च स्वाङ्गवाचिनः परस्याः सप्तम्या लुग् न स्यात् कामवर्जिते उत्तरपदे परे। कण्ठेकालः, उदरेमणिः, शिरसिशिखः। अमूर्धमस्तकादिति किम्—मूर्धशिखः, मस्तकशिखः। अकाम इति किम्—मुखे कामोऽस्य मुखकामः।

(४६७) तत्पुरुषे कृति ॥ ३ । २ । २२ ।

अदन्तात् हसान्ताच्च परस्याः सप्तम्या लुग् न स्यात् कृदन्ते उत्तरपदे तत्पुरुषसमासे। स्तम्बेरमः, कर्णेजपः।

इत्यलुक्समासः

अथ समासाश्रयविधिः

(४६८) ईपः ॥ ३ । २ । ६५ ।

*तरादिषु परेषु भाषितपुंस्कात्परस्येपो ह्रस्वः स्यात् तुल्यार्थे। गौरितरा, कुमारिकल्पा।

---

* तरतमरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहत इति तरादिः।

(४९९) घञ्युपसर्गस्य बहुलम् ॥ ३ । २ । ८७ ।)

घञन्ते उत्तरपदे उपसर्गस्य बहुलं दीर्घः स्यात् । नीमेदः, नीवारः, प्रावारः, प्रासादः, प्राकारः । क्वचिद्वा—परिणामः, परीणामः । क्वचिन्न—प्रतापः, प्रभावः ।

(५००) एकादशषोडशषोडन्षोढाषड्ढाः ॥ ३ । २ । ९४ ।

एते कृतसमासा निपात्यन्ते । एकोत्तरा दश, एकं च दश च वा एकादश, षोडश । एवं षड् दन्ता अस्य षोडन्, षड्भिः प्रकारैः षोढा षड्ढा वा ।

(५०१) द्वित्र्यष्टानां द्वात्रयोऽष्टाः प्राक् शतादनशीति बहुव्रीहौ ॥ ३ । २ । ९५ ।

द्व्यादीनां द्वादय आदेशाः स्युः प्राक् शतात् संख्यायामुत्तरपदे अशीति बहुव्रीहिसमासविषयं चोत्तरपदं वर्जयित्वा । द्वाभ्यामधिका दश, द्वौ च दश चेति वा द्वादश । एवं त्रयोदश, अष्टादश । प्राक् शतादिति किम्—द्विशतम् । अनशीति बहुव्रीहाविति किम्—द्व्यशीतिः, द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः ।

(५०२) चत्वारिंशदादौ वा ॥ ३ । २ । ९६ ।

द्वाचत्वारिंशत्, द्विचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत्, त्रिचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत्, अष्टचत्वारिंशत् ।

(५०३) खित्यनव्ययस्वरान्तारुषां मुम् ह्रस्वश्च ॥ ३ । २ । १३९ ।

अव्ययवर्जितस्वरान्तस्य अरुषश्च मुमागमः स्यात् यथाप्राप्तह्रस्वश्च खिदन्ते परे । कालिंमन्या, हरिणिंमन्या, मेघंकरः, प्रियंवदः, अरुंतुदः ।

(५०४) कृत्येऽवश्यमो लोपः ॥ ३ । २ । १४७ ।

कृत्यप्रत्ययान्ते परे अवश्यमो लोपः स्यात् । अवश्यकार्यं स्तुत्यं देयं कर्तव्यं करणीयं वा । कृत्ये इति किम्—अवश्यंलावकः ।

(५०५) समो हिततत्तयोर्वा ॥ ३ । २ । १४८ ।

सहितम्, संहितम्, सततम्, सन्ततम् ।

(५०६) काममनसोस्तुमश्च ॥ ३ । २ । १४९ ।

कर्तुकामः, हर्तुमनाः, सकामः, समनाः ।

(५०७) अन्यस्य दुगीयकारके ॥ ३ । २ । १५५ ।

ईयप्रत्यये कारकशब्दे च परे अन्यस्य दुगागमः स्यात् । अन्यस्य कारकः—अन्यत्कारकः ।

(५०८) अर्थे वा ॥ ३ । २ । १५७ ।

अन्यदर्थः, अन्यार्थः ।

(५०९) दृग्दृशदृक्षेषु ॥ ३ । २ । १३३ ।

दृगादिषु परेषु समानस्य सः स्यात् । सदृक्, सदृशः, सदृक्षः ।

(५१०) अन्यत्यदादेराः ॥ ३ । २ । १३४ ।

अन्यस्य त्यदादेश्च आकारादेशः स्यात् दृगादिषु परेषु । अन्यादृक्, अन्यादृशः, अन्यादृक्षः । एवं तादृक्, यादृक्, त्वादृक्, मादृक्, भवादृक् । अदसोऽनेनात्वे मादुवर्णोऽनु इति दीर्घ ऊकारे च । अमूदृक् ।

(५११) किमिदमोः कीशीशौ ॥ ३ । २ । १३५ ।

अनयोर्दृगादिषु परेषु कीशीशौ स्तः । कीदृक्, कीदृशः, कीदृक्षः । ईदृक्, ईदृशः, ईदृक्षः ।

(५१२) तस्करादयश्चौरादिषु ॥ ३ । २ । १५६ ।

एते चोरादिष्वर्थेषु निपात्यन्ते। तस्करश्चोरः, बृहस्पतिर्देवता। अन्यत्र तत्करः, बृहत्पतिः।

(५१३) पृषोदरादयः॥ ३। २। १५८।

पृषोदरादयः शब्दा निपातनात् सिध्यन्ति। पृषदुदरे अस्य—पृषोदरः, जीवनस्य मूतः—जीमूतः, वारिणो वाहकः—बलाहकः, मह्यां रौतीति मयूरः, हिनस्तीति सिंहः, भ्रमन् रौतीति भ्रमरः।

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च,
द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योग-
स्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम्॥ १॥

वर्णागमाद् भवेद्धंसः, सिंहो वर्णविपर्ययात्।
गूढोत्मा वर्णविकृते-र्वर्णनाशात् पृषोदरः॥ २॥

वर्णनाशविकाराभ्यां, धातोरतिशयेन यः।
योगस्तदुच्यते प्राज्ञै-र्मयूरभ्रमरादिषु॥ ३॥

इति समासेषु समासाश्रयविधिः

इति समास-प्रकरणम्

अथ तद्धित-प्रकरणम्

तद्धितेषु अपत्याधिकारः

(५१४) तद्धिताः ॥ ६ । २ । १ ।

इतो वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तद्धितसंज्ञकाः स्युः ।

(५१५) प्राग्दीव्यतेरण् ॥ ६ । २ । १४ ।

तेन दीव्यतीत्यतः प्राग् अण् अधिक्रियते ।

(५१६) तस्यापत्ये ॥ ६ । २ । ३१ ।

षष्ठयन्तान्नाम्नोऽपत्येऽर्थे अणादयः प्रत्ययाः स्युः । भानोः अपत्यमिति विग्रहे ।

(५१७) उवर्णस्यास्वयंभुवोऽव् ॥ ८ । ४ । ६६ ।

स्वयंभूर्वजितस्योवर्णान्तस्य अपदस्य तद्धिते परे अव् स्यात् । भानवः । दशरथस्यापत्यम् ।

(५१८) अत इञ् ॥ ६ । २ । ३४ ।

अदन्तात् षष्ठयन्तादपत्यार्थे इञ् स्यात् ।

(५१९) वृद्धिः स्वराणामादेर्ञ्णिति तद्धिते ॥ ८ । ४ । १ ।

स्वराणां मध्ये आदिस्वरस्य वृद्धिः स्यात् ञिति णिति च तद्धिते परे। दाशरथिः।

(५२०) शिवादेरण्॥ ६ । २ । ४२।

शैवः, प्रौष्ठः।

(५२१) ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः ॥ ६ । २ ४४।

ऋष्यादिवाचिभ्योऽपत्ये अण् स्यात्। वाशिष्ठः, श्वाफल्कः, वासुदेवः, नाकुलः।

(५२२) कन्यायाः कनीनश्च ॥ ६ । २ । ४६।

कन्याया अपत्यम्—कानीनः, व्यासः कर्णो वा।

(५२३) गोत्रे बिदादेः पौत्रादौ ॥ ६ । २ । ५६।

बिदादिभ्यो गोत्रे पौत्रादावपत्ये अञ् स्यात्। बिदस्य पौत्राद्यपत्यम्—बैदः, काश्यपः।

(५२४) गर्गादिर्यञ् ॥ ६ । २ । ५७।

गोत्रे एव। गार्ग्यः, वात्स्यः।

(५२५) यञञोऽश्यापर्णान्तगोपवनादेः ॥ ६ । २ । १३६।

गोत्रेऽर्थे बहुत्वे वर्तमानयोः यञ्, अञ् इत्येतयोर्लुक् स्यात् अस्त्रियां न तु श्यापर्णान्तगोपवनादिभ्यः। गर्गाः, बिदाः। गोपवनादिर्बिदाद्यन्तर्गणस्तद्वर्जनान्नेह—गौपवनाः, श्यापर्णाः। अस्त्रियामिति किम्—गार्ग्यः स्त्रियः।

(५२६) नडादिभ्य आयनण् ॥ ६ । २ । ६८।

नाडायनः, चारायणः। सर्वत्र अनन्तरापत्ये तु इञेव। बैदिः, गार्गिः, नाडिः।

(५२७) द्विस्वरादनद्याः ॥ ६ । २ । ८६ ।

द्विस्वरात् स्त्रीप्रत्ययान्तादनद्यर्थादपत्ये एयण् स्यात् । दात्तेयः, गौप्तेयः । अनद्या इति किम्—सैप्रः ।

(५२८) क्षुद्राभ्यो वा ॥ ६ । २ । १०४ ।

अङ्गहीनाः शीलहीना वा स्त्रियः क्षुद्राः । ताभ्योऽपत्ये एरण् वा स्यात् । पक्षे पूर्वेण एयण्—काणेरः, काणेयः, दासेरः, दासेयः ।

(५२९) स्वसुरीयः ॥ ६ । २ । १०६ ।

स्वस्रीयः ।

(५३०) भ्रातुर्व्यश्च ॥ ६ । २ । १०७ ।

चादीयः । भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः ।

(५३१) श्वशुराद्यः ॥ ६ । २ । ११४ ।

श्वशुर्यः ।

(५३२) राज्ञो जातौ ॥ ६ । १ । ११५ ।

राजन्शब्दादपत्येऽर्थे यः स्याज्जातौ । नो पदस्येति टेर्लोपे प्राप्ते ।

(५३३) अनोऽत्ये ये ॥ ८ । ४ । ५२ ।

अन्नन्तस्य टेर्लोपो न स्यात् ट्यवर्जिते ये परे । राजन्यः । अन्यत्र *राजनः ।

(५३४) क्षत्रादियः ॥ ६ । २ । ११६ ।

जातावेव । क्षत्रियो जातिश्चेत् । क्षात्रिरन्यः ।

(५३५) मनोर्याणौ षुक् च ॥ ६ । २ । ११७ ।

* अणीति टिलोपो न ।

मनुशब्दादपत्ये याणौ स्तः अस्य षुगागमश्च जातौ। मनुष्यः, मानुषः। जाताविति किम्—मानवः।

(५३६) इतोऽनिञः ॥ ६।२।६०।

इञान्तवर्जितात् द्विस्वरादिदन्तात् अपत्ये एयण् स्यात्। नाभेयः, आहेयः। इत इति किम्—दाक्षिः।

(५३७) कुलादीनः ॥ ६।२।११६।

कुलादपत्ये ईनः स्यात्। कुलीनः, राजकुलीनः।

(५३८) दुष्कुलादेयण् ॥ ६।२।१२२।

अस्मादपत्ये एयण् वा स्यात्। पक्षे ईनः। दौष्कुलेयः, दुष्कुलीनः।

(५३९) प्राग्वतोऽग्निकलेरेयण् ॥ ६।२।२७।

वतः प्राग् येऽर्थास्तेषु अग्निकलिभ्यामेयण् स्यात्। अग्नेरपत्यम्—आग्नेयः, कालेयः।

(५४०) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ ॥ ६।२।२८।

प्राग्वतोऽर्थे आभ्यां नञ्स्नञौ स्तः। स्त्रिया अपत्यम्—स्त्रैणः, पौंस्नः।

(५४१) गोः स्वरे यः ॥ ६।२।३०

गोशब्दात् स्वरादितद्धितप्रसङ्गे यः स्यात्।

(५४२) येऽयकि ॥ १।२।५७ (१४५)

यग्वर्जिते येप्रत्यये परे ओकारौकारयोः अव्, आव् इत्यादेशौ स्तः। गोरपत्यम्—गव्यः।

इति-अपत्याधिकारः।

अथ रक्ताद्यर्थाधिकारः

(५४३) तेन रक्ते रागात् ॥ ६ । ३ । १ ।

रज्यतेऽनेनेति रागः । तृतीयान्तात् रागवाचिनो रक्तेऽर्थे अणादयः स्युः । कुसुम्भेन रक्तम्—कौसुम्भम्, हारिद्रम्, कौङ्कुमम् । रागादिति किम्—देवदत्तेन रक्तम् ।

(५४४) तस्य समूहे ॥ ६ । ३ । १० ।

षष्ठ्यन्तात् समूहेऽर्थे अणादयः स्युः । काकानां समूहः—काकम्, बाकम्, शौकम्, यौवतम्, स्त्रैणम्, पौंस्नम्, गव्यम् ।

(५४५) गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्साजमनुष्यवृद्धादकञ् ॥ ६ । ३ । १३ ।

गोत्रप्रत्ययान्तात् उक्षादेश्च तस्य समूहे अकञ् स्यात् ।

(५४६) तद्धितेऽनातियस्वरे ॥ ८ । ४ । ७८ ।

हसात्परस्याऽपत्ययकारस्य लोपः स्यात् यकारे आवर्जिते स्वरे च तद्धिते । गर्गाणां समूहः—गार्गकम्, औक्षकम्, औष्ट्रकम्, औरभ्रकम्, राजकम् ।

(५४७) राजन्यमनुष्ययूनामके ॥ ८ । ४ । ५१ ।

एषां प्राप्तो लोपो न स्यात् अके परे । राजन्यकम्, राजपुत्रकम्, वात्सकम्, आजकम्, मानुष्यकम्, वार्धकम् ।

(५४८) कवचिहस्त्यचित्ताच्चेकण् ॥ ६ । ३ । १५ ।

कवचिन्, हस्तिन् इत्येताभ्यामचित्तवाचिभ्यःकेदाराच्च समूहे इकण् स्यात् । कवचिनां समूहः—कावचिकम्, हास्तिकम्, आपूपिकम्, कैदारिकम् ।

(५४६) धेनोरनञः ॥ ६ । ३ । १६ ।

अनञ्पूर्वाद्धेनुशब्दात्समूहे इकण् स्यात् ।

(५५०) ऋवर्णोवर्णसुदोर्भ्य इकस्येतः ॥ ८ । ४ । ८० ।

ऋवर्ण, उवर्ण, इस्, उस्, इत्येतदन्तात् दोष्शब्दाच्च परस्य इकस्येकारस्य लोपः स्यात् । धेनूनां समूहः—धैनुकम् ।

(५५१) अश्वादीयो वा ॥ ६ । ३ । २० ।

अश्वीयः । पक्षे अण्—आश्वम् ।

(५५२) ग्रामजनबन्धुगजसहायेभ्यस्तल् ॥ ६ । ३ । २६ ।

ग्रामता, जनता, बन्धुता, गजता, सहायता । लित्वात् स्त्रीत्वम् ।

(५५३) विकारे ॥ ६ । ३ । ३३ ।

षष्ठ्यन्तात् विकारेऽर्थे यथाविहितः प्रत्ययः स्यात् । सुवर्णस्य विकारः—सौवर्णं कुण्डलम् ।

(५५४) पितृमातृभ्यां व्यड्डुलौ भ्रातरि ॥ ६ । ३ । ३० ।

आभ्यां भ्रात्रर्थे व्यड्डुलौ स्तः । पितुर्भ्राता—पितृव्यः, मातुर्भ्राता—मातुलः ।

(५५५) पित्रोर्डामहट् ॥ ६ । ३ । ३१ ।

आभ्यां पितृमात्रोरर्थयोर्डामहट् स्यात् । पितुः पिता माता वा—पितामहः, पितामही, मातुः पिता माता वा—मातामहः, मातामही ।

(५५६) गोः पुरीषे ॥ ६ । ३ । ५२ ।

गोशब्दात् पुरीषेऽर्थे मयट् स्यात् । गोः पुरीषम्—गोमयम् ।

(५५७) पुरुषात् कृतहितवधविकारसमूहेष्वेयञ् ॥ ६ । ३ ।६४ ।

पुरुषेण कृतः—पौरुषेयो ग्रन्थः, पुरुषाय हितम्—पौरुषेयं पथ्यम्, पुरुषाणां वधः, विकारः, समूहो वा—पौरुषेयः ।

(५५८) निष्फले तिलात् पिञ्जपेजौ ॥ ६ । ३ । ६५ ।

निष्फलस्तिलः—तिलपिञ्जः, तिलपेजः ।

(५५६) सास्य देवता ॥ ६ । ३ । ६६ ।

प्रथमान्तात् षष्ठ्यर्थे यथाविहितः प्रत्ययः स्यात् यत्प्रथमान्तं देवता चेत् स्यात् । जिनो देवताऽस्य स जैनः । एवं शैवः, बौद्धः, आग्नेयः ।

(५६०) ऋतुवायुपित्रुषसो यः ॥ ६ । ३ । ७३ ।

ऋतुर्देवता अस्य—ऋतव्यम्, वायव्यम् ।

(५६१) ऋतो रस्तद्धिते ये ॥ १ । २ । ३३ ।

ऋतो रेफादेशः स्यात् तद्धिते ये परे । पित्र्यम्, उषस्यम् ।

(५६२) तद्वेत्त्यधीते ॥ ६ । ३ । ८५ ।

द्वितीयान्तात् वेत्ति, अधीते इत्यर्थयोर्यथाविहितः प्रत्ययः स्यात् । सूत्रं वेत्त्यधीते वा—सौत्रः, व्याकरणं वेत्त्यधीते वेत्यत्रादिस्वरस्य वृद्धिप्रसङ्गे ।

(५६३) संधिय्वोरैदौट् च ॥ ८ । ४ । २३ ।

संधिजाभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्यादिस्वरस्य प्राप्ता वृद्धिर्न स्यात् किन्तु तयोः ऐट्, औट् इत्यागमौ स्तः । वैयाकरणः ।

(५६४) न्यायादेरिकण् ॥ ६ । ३ । ८६ ।

नैयायिकः, नैमित्तिकः, मौहूर्तिकः ।

(५६५) तेन छन्ने रथे ॥ ६ । ३ । ६६ ।

तृतीयान्तात् छन्ने रथेऽर्थे यथाविहितः प्रत्ययः स्यात् । वस्त्रेण छन्नो रथः—वास्त्रः, काम्बलः ।

(५६६) अणि ॥ ८ । ४ । ५३ ।

अन्नन्तस्य टेर्लोपो न स्यात् तद्धिते अणि परे। चर्मणा छन्नो रथः—चार्मणः।

(५६७) संस्कृते भक्ष्ये ॥ ६ । ३ । १०७ ।

सप्तम्यन्तात् संस्कृते भक्ष्ये अण् स्यात्।

(५६८) द्विगोरनपत्ये यस्वरादेर्लुगद्विः ॥ ६ । २ । २६ ।

अपत्यार्थादन्यस्मिन् प्राग् दीव्यतीयेऽर्थे उत्पन्नस्य द्विगोः परस्य यकारादेः स्वरादेश्च प्रत्ययस्य सकृल्लुग् भवति। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः।

इति रक्ताद्यर्थाधिकारः।

अथ शेषाधिकारः

(५६९) शेषे ॥ ६ । ४ । १ ।

उक्तादन्यः शेषः। अत ऊर्ध्वं यान् प्रत्ययान् वक्ष्यामस्ते शेषेऽर्थे वेदितव्याः।

(५७०) राष्ट्रादियः ॥ ६ । ४ । २ ।

राष्ट्रे जातः, भवः, क्रीतः, कुशलो वा—राष्ट्रियः।

(५७१) ग्रामादीनञ् च ॥ ६ । ४ । ५ ।

अस्माच्छेषेऽर्थे ईनञ् चाद्यश्च प्रत्ययौ स्तः। ग्रामीणः, ग्राम्यः।

(५७२) नद्यादेरेयण् ॥ ६ । ४ । ६ ।

नादेयः, माहेयः।

(५७३) कामेहत्रतसस्त्यप् ॥ ६ । ४ । १५ ।

एभ्यः शेषेऽर्थे त्यप् स्यात् । क्वत्यः, अमात्यः, इहत्यः, कुत्रत्यः, यत्रत्यः, कुतस्त्यः, ततस्त्यः ।

(५७४) दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यण् ॥ ६ । ४ । १० ।

दाक्षिणात्यः, पाश्चात्त्यः, पौरस्त्यः ।

(५७५) णोऽरण्यात् ॥ ६ । ४ । २१ ।

आरण्याः पशवः ।

(५७६) भवतोरिकणीयसौ ॥ ६ । ४ । ३० ।

भवत्शब्दात् शेषेऽर्थे इकणीयसौ स्तः ।

(५७७) तोऽशश्वदकस्मात् ॥ ८ । ४ । ८१ ।

शश्वदकस्माद्वर्जितात् तान्तात्परस्य इक इकारस्य लोपः स्यात् । भवतः इदम्—भावत्कम्, भवदीयम् । सकारो नामसिदयहसे इति पदत्वार्थः ।

(५७८) परजनराज्ञोऽकीयः ॥ ६ । ४ । ३१ ।

परकीयः, जनकीयः, राजकीयः ।

(५७९) संज्ञावृद्धं वा ॥ ६ । २ । ९ ।

या संज्ञा व्यवहाराय नियुज्यते सा वृद्धसंज्ञा वा स्यात् ।

(५८०) त्यदादिः ॥ ६ । २ । १० ।

त्यदादिगणो वृद्धसंज्ञः स्यात् ।

(५८१) वृद्धादीयः ॥ ६ । ४ । ३२ ।

वृद्धसंज्ञकाच्छेषेऽर्थे ईयः स्यात् । चैत्रीयः, मैत्रीयः, तदीयः यदीयः ।

(५८२) गह्यादिभ्यः ॥ ६ । ४ । ६५ ।

गर्हीयः। अन्यस्य दुगागमे अन्यदीयः, स्वकात्—स्वकीयः, देवकात् —देवकीयः।

(५८३) वा युष्मदस्मदोऽञीनञौ युष्माकास्माकौ च ॥६।४।६६।

युष्मदस्मद्भ्यां शेषेऽर्थे अञीनञौ वा स्तः, अनयोर्युष्माक, अस्माक इत्यादेशौ च। युवयोर्युष्माकं वा इदम्—यौष्माकम्, यौष्माकीणम्। पक्षे युष्मदीयम्। आस्माकम्, आस्माकीनम्, अस्मदीयम्।

(५८४) तवकममकावेकत्वे ॥ ६ । ४ । ७० ।

एकत्वे अञीनञौ वा स्तः अनयोस्तवकममकौ च। तावकम्, तावकीनम्। पक्षे—त्वदीयम्। मामकम्, मामकीनम्, मदीयम्।

(५८५) अन्तादिमध्यान्मः ॥ ६ । ४ । ७६ ।

अन्तमः, आदिमः, मध्यमः।

(५८६) पश्चादग्रान्तादिमः ॥ ६ । ४ । ७८ ।

एभ्यः शेषेऽर्थे इमः स्यात्।

(५८७) अनाराच्छश्वत्पृथगोऽव्ययस्य ॥ ८ । ४ । ६६ ।

आरादिवर्जितस्य अव्ययस्य टेर्लोपः स्यात् तद्धिते परे। पश्चिमः, अग्रिमः, अन्तिमः।

(५८८) वर्षाकालेभ्य इकण् ॥ ६ । ४ । ८१ ।

वार्षिकः, मासिकः, सांवत्सरिकः, दैवसिकः।

(५८९) ऋतुनक्षत्रसंध्यादेरण् ॥ ६ । ४ । ८६ ।

एभ्यः शेषेऽर्थे अण् स्यात्। पूर्वापवादः। ग्रीष्मे भवः—ग्रैष्मः, वासन्तः।

(५९०) तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्रेऽणि ॥ ८ । ४ । ७६ ।

नक्षत्रवाचिनोरनयोर्यस्य लोपः स्यात् अणि परे। तिष्ये भवः—तैषः, पौषः, सन्ध्यायां भवः—सान्ध्यः।

(५६१) तत्र जाते॥ ७। १। १।

सप्तम्यन्ताज्जातेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः। स्रुघ्ने जातः—स्रौघ्नः, माथुरः, आग्नेयः, कालेयः, स्त्रैणः, पौंस्नः, राष्ट्रियः, ग्रामीणः, ग्राम्यः।

(५६२) कृतलब्धक्रीतसंभूतेषु॥ ७। १। १७।

सप्तम्यन्तात् कृतादिष्वर्थेषु यथाविहिताः प्रत्ययाः स्युः। स्रुघ्ने कृतो, लब्धः, क्रीतः, संभूतो वा—स्रौघ्न इत्यादि।

(५६३) कुशले॥ ७। १। १८।

स्रुघ्ने कुशलः—स्रौघ्नः, माथुरः।

(५६४) भवे॥ ७। ३। ३१।

स्रुघ्ने भवः—स्रौघ्नः, माथुरः।

(५६५) दिगादेर्यः॥ ७। १। ३२।

दिशि भवो—दिश्यः, वर्ग्यः, आद्यः, अन्त्यः।

(५६६) शरीरावयवात्॥ ७। १। ३३।

दन्ते भवः—दन्त्यः, कर्ण्यः, ओष्ठ्यः, मुख्यः मूर्धन्यः।

(५६७) दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यहेरेयण्॥ ७। १। ३५।

दार्तेयं जलम्, कौक्षेयो व्याधिः, कालशेयं तक्रम्, वास्तेयं मूत्रम्, आहेयं विषम्।

(५६८) मध्याद्दिनण्णेया मुम् चास्य॥ ७। १। ४८।

अस्मात् भवेऽर्थे दिनण्, ण, ईय इत्येते प्रत्ययाः स्युः, अस्य मुमागमश्च। मध्ये भवः—माध्यन्दिनः, माध्यमः, माध्यमीयः।

(५९९) ईयो मत्वर्थजिह्वामूलाङ्गुलिभ्यश्च ॥ ७ । १ । ४९ ।

एभ्यो मध्यशब्दाच्च भवेऽर्थे ईयः स्यात् । मत्वर्थीयः, जिह्वामूलीयः, अङ्गुलीयः, मध्यीयः ।

(६००) वर्गान्तात् ॥ ७ । १ । ५० ।

कवर्गीयः, पवर्गीयः ।

(६०१) प्रभवति ॥ ७ । १ । ६९ ।

पञ्चम्यन्तात् प्रभवतीत्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । हिमवतः प्रभवतीति हैमवती गंगा ।

(६०२) अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥ ७ । १ । ७४ ।

द्वितीयान्तात् अधिकृत्य कृते ग्रन्थेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः—सौभद्रः, सौतारः, भाद्रः ।

(६०३) तेन प्रोक्ते ॥ ७ । १ । ६१ ।

तृतीयान्तात् प्रोक्तेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । गणधरेण प्रोक्तम्—गाणधरं द्वादशाङ्गम् ।

(६०४) कृते ॥ ७ । १ । १०६ ।

शिवेन कृतो ग्रन्थः—शैवः, सिद्धसेनीयः स्तवः, इष्टकाभिः कृतः प्रासादः—ऐष्टकः ।

(६०५) तस्येदम् ॥ ७ । १ । ११२ ।

षष्ठयन्तादिदमर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । भैक्षवम्, स्रौघ्नम्, माथुरम्, आग्नेयम्, स्त्रैणम्, पौंस्नम्, गव्यम्, नादेयम्, स्वस्येदम्—सौवम्, दैवम् ।

इति शेषाधिकारः

अथ इकणधिकारः

(६०६) इकण् ॥ ७ । २ । १ ।

इत इकणधिकारो वेदितव्यः ।

(६०७) तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितेषु ॥ ७ । २ । २ ।

तृतीयान्ताद्दीव्यत्यादिष्वर्थेषु इकण् स्यात् । अक्षैर्दीव्यति—आक्षिकः, कुद्दालेन खनति—कौद्दालिकः, अक्षैर्जयति—आक्षिकः, अक्षैर्जितम्—आक्षिकम् ।

(६०८) संस्कृते ॥ ७ । २ । ८ ।

दध्ना संस्कृतम्—दाधिकम्

(६०९) तरति ॥ ७ । २ । १० ।

गोपुच्छेन तरति—गौपुच्छिकः, औडुपिकः ।

(६१०) नौ द्विस्वरादिकः ॥ ७ । २ । ११ ।

नाविकः, बाहुकः ।

(६११) चरति ॥ ७ । २ । १२ ।

हस्तिना चरति—हास्तिकः, शाकटिकः ।

(६१२) पर्पादेरिकट् ॥ ७ । २ । १३ ।

पर्पेण चरति—पर्पिकः, पर्पिकी, अश्विकः, रथिकः ।

(६१३) पक्षिमत्स्यमृगाख्येभ्यो हन्ति ॥ ७ । २ । ३८ ।

आख्यशब्देन स्वरूपस्य पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम् । द्वितीयान्तेभ्यः पक्ष्यादिवाचिभ्यो हन्तीत्यर्थे इकण् स्यात् । पक्षिणो हन्ति—

---

* येन पीठेन पङ्गवश्चरन्ति स पर्पः ।

पाक्षिकः, शाकुनिकः, मात्स्यिकः, मैनिकः, मार्गिकः, हारिणिकः ।

(६१४) धर्माधर्माभ्यां चरति ॥ ७ । २ । ४३ ।

धर्मं चरति—धार्मिकः, आधार्मिकः ।

(६१५) निकटादिषु वसति ॥ ७ । २ । ८२ ।

एभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यो वसतीत्यर्थे इकण् स्यात् । निकटे वसति—नैकटिको भिक्षुः, वार्क्षमूलिकः, श्माशानिकः ।

(६१६) सतीर्थ्यः ॥ ७ । २ । ८३ ।

समाने तीर्थे वसतीति सतीर्थ्यः ।

(६१७) मूल्यैः क्रीते ॥ ७ । २ । १०५ ।

तृतीयान्तान्मूल्यवाचिनः क्रीतेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययाः स्युः । प्रस्थेन क्रीतम्—प्रास्थिकम्, साप्ततिकम् ।

(६१८) अर्हति ॥ ७ । २ । १३२ ।

द्वितीयान्तादर्हतीत्यर्थे यथोक्तं प्रत्ययः स्यात् । छत्रमर्हति—छात्रिकः, चामरिकः, वास्त्रिकः ।

(६१९) शोभते ॥ ७ । २ । १७३ ।

तृतीयान्तात् शोभते इत्यर्थे इकण् स्यात् । आचार्येण शोभते—आचार्यिकः, शीलेन शोभते—शैलिकी सीता ।

इति-इकणधिकारः

अथ यादिप्रत्ययाधिकारः

(६२०) तत्र साधौ ॥ ७ । ३ । १५ ।

तत्रेति सप्तम्यन्तात् साधावर्थे यः स्यात् । कर्मणि साधुः—कर्मण्यः, सभायां सभ्यः ।

(६२१) पर्षदो ण्यणौ ॥ ७ । ३ । १८ ।

पर्षदि साधुः—पार्षद्यः, पार्षदः ।

(६२२) कथादेरिकण् ॥ ७ । ३ । २१ ।

कथायां साधुः—काथिकः, वैकथिकः ।

(६२३) तस्मै हिते ॥ ७ । ३ । ३५ ।

चतुर्थ्यन्तात् हितेऽर्थे ईयः स्यात् । वत्साय हितः—वात्सीयः, पित्रीयः, मात्रीयः, गव्यम्, स्वस्मै हितम्—स्वीयम् ।

(६२४) शरीरावयवाद्यः ॥ ७ । ३ । ३७ ।

दन्त्यम्, कर्ण्यम् ।

(६२५) अजाविभ्यां थ्यः ॥ ७ । ३ । ३६ ।

अजेभ्यो हितम्—अजथ्यम्, अविथ्यम् । नामग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणात् अजाभ्यो हितमित्यत्र तु ।

(६२६) मानिक्यङ्कच्तस्तरतमचरट्कल्पदेश्यरूपपाशथ्येथट्थट्तिथट्प्लुक्षु ॥ ३ । २ । ४६ ।

मानिनि क्यङादि च परे भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाः पुंवत् स्यात् । अजथ्यम् ।

इति यादिप्रत्ययाधिकारः ।

अथ भावकर्मार्थाः

(६२७) तस्यार्हे क्रियायां वत् ॥ ७ । ३ ५२ ।

षष्ठयन्तादर्हेऽर्थे वत् स्यात् अर्हं चेत् क्रिया स्यात् । साधोरर्हं साधुवत् वृत्तमस्य साधोः ।

(६२८) स्यादेरिवे ॥ ७ । ३ । ५३ ।

स्याद्यन्तादिवार्थे वत् स्यात् तच्चेत् सादृश्यक्रियाविषयः स्यात्। अश्ववद् धावति चैत्रः, देववत् पश्यति मुनिम्।

(६२९) तत्र ॥ ७ । ३ । ५४ ।

सप्तम्यन्तादिवार्थे वत् स्यात्। मथुरायामिव—मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः।

(६३०) तस्य ॥ ७ । ३ । ५५ ।

षष्ठ्यन्तादिवार्थे वत् स्यात्। चैत्रस्येव—चैत्रवत् मैत्रस्य गावः।

(६३१) भावे त्वतलौ ॥ ७ । ३ । ५६ ।

षष्ठ्यन्ताद् भावेऽर्थे त्वतलौ स्तः। शब्दस्यार्थे प्रवृत्तिहेतुर्गुणो भावः। गोशब्दस्य भावः—गोत्वम्, गोता, शुक्लत्वम्, शुक्लता, कारकत्वम्, कारकता, दण्डित्वम्, दण्डिता।

(६३२) पृथ्वादेरिमन् वा ॥ ७ । ३ । ५९ ।

एभ्यो भावेऽर्थे इमन् वा स्यात्।

(६३३) पृथुमृदुभृशकृशदृढपरिवृढस्य ऋतो रः ॥ ८ । ४ । ४६ ।

एषामृकारस्य रेफः स्यात् इमनिञ्चीष्ठेयस्सु च परेषु।

(६३४) टेः ॥ ८ । ४ । ४४ ।

टेर्लोपः स्यात् इमनिञ्चीष्ठेयस्सु च परेषु। पृथोर्भावः—प्रथिमा। पक्षे यथाप्राप्तं पृथुत्वम्, पृथुता। एवं म्रदिमा, मृदुत्वम्, मृदुता। प्रियस्य भाव इत्यत्र तु।

(६३५) प्रियस्थिरस्फिरोरुगुरुबहुलतृप्रदीर्घह्रस्ववृद्धवृन्दारकाणामिमन्यपि प्रस्थस्फवरगरबंहत्रपद्राघह्रसवर्षवृन्दाः ॥ ८ । ४ । ३८ ।

प्रियादीनां यथासंख्यं प्रादयः आदेशाः स्युः यथासंभवमिमनिञ्ची-

ष्ठेयस्सु च परेषु । इति प्रादेशे, टेरिति टेर्लोपे प्राप्ते ।

(६३६) नैकस्वरस्य ॥ ८ । ४ । ४५ ।

एकस्वरस्य टेर्लोपो न स्यात् इमनादिषु परेषु । प्रेमा, स्थिरस्य स्थेमा, उरोर्वरिमा, गुरोर्गरिमा, बहुलस्य बंहिमा, तृप्रस्य त्रपिमा, दीर्घस्य द्राघिमा, ह्रस्वस्य ह्रसिमा, वृद्धस्य वर्षिमा, वृन्दारकस्य वृन्दिमा ।

(६३७) भूर्लोपश्चेवर्णस्य ॥ ८ । ४ । ४१ ।

बहोरीयसौ इमनि च परे भूरादेशः स्यात् अनयोरिवर्णस्य लोपश्च । भूमा ।

(६३८) वर्णदृढादिभ्यष्ट्यण् च ॥ ७ । ३ । ६० ।

वर्णवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च भावे टयण् इमन् च प्रत्ययौ वा स्याताम् । शौक्ल्यम्, शुक्लिमा, शुक्लत्वम्, शुक्लता, कार्ष्ण्यम्, कृष्णिमा, कृष्णत्वम्, कृष्णता, दार्ढ्यम्, द्रढिमा, दृढत्वम्, दृढता, वैमत्यम्, विमतिमा, विमतित्वम्, विमतिता इत्यादि ।

(६३९) पतिराजान्तगुणाङ्गराजादिभ्यः कर्मणि च ॥ ७ । ३ । ६१ ।

एभ्यः कर्मणि भावे च टयण् स्यात् । अधिपतेः कर्म भावो वा— आधिपत्यम्, नारपत्यम्, आधिराज्यम्, यौवराज्यम्, मौढ्यम्, वैदुष्यम्, राज्यम्, काव्यम् वाणिज्यम् इत्यादि ।

(६४०) सखिदूतवणिग्भ्यो यः ॥ ७ । ३ । ६४ ।

सख्युः कर्म भावो वा—सख्यम्, दूत्यम्, वणिज्यम् ।

(६४१) युवादेरण् ॥ ७ । ३ । ६८ ।

यौवनम्, स्थाविरम् ।

(६४२) लघुपूर्वाद् य्वृवर्णात् ॥ ७ । ३ । ७२ ।

लघ्वक्षरपूर्वादिवर्णान्ताद् उवर्णान्ताद् ऋवर्णान्ताच्च कर्मणि भावे चाण् स्यात् । मुनेः कर्म भावो वा—मौनम्, पाटवम्, पैत्रम् । अधिकारत्वात् पक्षे सर्वत्र त्वतलौ ।

(६४३) ऋत्विग्भ्य ईयः ।। ७ । ३ । ७७ ।

मैत्रावरुणस्य कर्म भावो वा—मैत्रावरुणीयम् ।

(६४४) ब्रह्मणस्त्वः ७ । ३ । ७८ ।

पूर्वापवादः । ब्रह्मणो भावः कर्म वा—ब्रह्मत्वम् ।

इति भावकर्मार्थाः

अथ क्षेत्राद्यर्थकाः

(६४५) क्षेत्रे शाकटशाकिनौ ।। ७ । ३ । ७९ ।

इक्षूणां क्षेत्रम्—इक्षुशाकटम्, शाकशाकिनम् ।

(६४६) तेन वित्ते चञ्चुचणौ ।। ७ । ४ । १६ ।

तृतीयान्ताद्वित्तेऽर्थे चञ्चुचणौ स्तः । विद्यया वित्तो ज्ञातः—विद्याचञ्चुः, विद्याचणः ।

(६४७) अवेः संघातविस्तारयोः कटपटौ ।। ७ । ४ । २५ ।

यथासंख्यं कटपटौ स्याताम् । अवीनां संघातः—अविकटः, अवीनां विस्तारः—अविपटः ।

(६४८) तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतः ।। ७ । ४ । ३१ ।

प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः षष्ठ्यर्थे इतः स्यात् तत् प्रथमान्तं सञ्जातं चेत् स्यात् । तारकाः सञ्जाता अस्य—तारकितं नभः, पुष्पितस्तरुः, बुभुक्षितः, पिपासितः ।

(६४६) प्रमाणान्मात्रट् ॥ ७ । ४ । ३३ ।

प्रथमान्तात् प्रमाणवाचिनः षष्ठ्यर्थे मात्रट् स्यात् । जानुनी प्रमाणमस्य—जानुमात्रं जलम्, जानुमात्री परिखा, रज्जुमात्री भूमिः ।

(६५०) ऊर्ध्वं दघ्नड्द्वयसटौ ॥ ७ । ४ । ३५ ।

ऊर्ध्वप्रमाणवाचिनो दघ्नड्द्वयसटौ वा स्तः । ऊरुःप्रमाणमस्य—ऊरुदघ्नम्, ऊरुद्वयसम्, ऊरुमात्रं वा जलम् । ऊर्ध्वमिति किम्—रज्जुमात्री भूमिः ।

(६५१) इदं किमोऽतुरियूकियू चास्य ॥ ७ । ४ । ४१ ।

आभ्यां मानवृत्तिभ्यां मेयेऽर्थे अतुः स्यात् अनयोरियूकियादेशौ च । इदं मानमस्य—इयान् पटः । किं मानमस्य—कियान् पटः ।

(६५२) यत्तदेतदो डावट् च ॥ ७ । ४ । ४२ ।

एभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मानवृत्तिभ्यः षष्ठ्यर्थे अतुः स्यात् तस्य च डावडागमः । यत्तदेतद्वा प्रमाणमस्य—यावान्, तावान्, एतावान् वा पटः ।

(६५३) यत्तत्किमः संख्याया डतिर्वा ॥ ७ । ४ । ४३ ।

संख्यारूपमानवृत्तिभ्यो यदादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः षष्ठ्यर्थे डतिर्वा स्यात् । या, सा, का संख्या मानमेषाम्—यति, तति, कति । पक्षे यावन्तः, तावन्तः, कियन्तः ।

(६५४) अवयवात्तयट् ॥ ७ । ४ । ४४ ।

संख्यावाचिनः प्रथमान्तादवयवे वर्तमानात् षष्ठ्यर्थे तयट् स्यात् ।

(६५५) ह्रस्वान्नामिनस्ते ॥ २ । २ । ३६ ।

ह्रस्वान्नामिनः परस्य सस्य षः स्यात् तादौ तद्धिते । चत्वारोऽवयवा अस्य स चतुष्टयः, एवं पञ्चतयो यमः, दशतयो धर्मः, द्वादशतयः सिद्धान्तः ।

(६५६) द्वित्रिभ्यामयड्वा ॥ ७ । ४ । ४५ ।

द्वौ अवयवौ अस्य—द्वयम्, द्वितयं वा तपः, त्रयम्, त्रितयं वा जगत् ।

(६५७) संख्यापूरणे डट् ॥ ७ । ४ । ४८ ।

संख्यावाचिनः संख्या पूर्यते येनेत्यर्थे डट् स्यात् । एकादशानां पूरणः—एकादशः, द्वादशः, त्रयोदशी, चतुर्दशी ।

(६५८) विंशत्यादेर्वा तमट् ॥ ७ । ४ । ४९ ।

विंशतेः पूरणः—विंशतितमः । पक्षे डटि ।

(६५९) विंशतेस्तेर्डिति ॥ ८ । ४ । ६८ ।

विंशतेस्तेर्लोपः स्यात् डिति तद्धिते । विंशः, त्रिंशत्तमः, त्रिंशः ।

(६६०) नोमट् ॥ ७ । ४ । ५२ ।

असंख्यादेर्नान्तसंख्यायाः संख्यापूरणे मट् स्यात् । पञ्चमः, सप्तमः, अष्टमः, नवमः, दशमः । असंख्यादेरिति किम्—एकादशः, द्वादशः ।

(६६१) द्वेस्तीयः ॥ ७ । ४ । ५५ ।

द्वितीयः ।

(६६२) त्रेस्तृ च ॥ ७ । ४ । ५६ ।

तृतीयः ।

(६६३) चतुरो येयौ च लोपश्च ॥ ७ । ४ । ५७ ।

तुर्यः, तुरीयः ।

(६६४) षट्कतिकतिपयाच्च थट् ॥ ७ । ४ । ५८ ।

एभ्यश्चतुर्शब्दाच्च संख्यापूरणे थट् स्यात् । नामसिदयहसे इति पदत्वे प्राप्ते ।

(६६५) थटि ॥ १ । १ । २८ ॥

थटि परे पूर्वं नाम पदसंज्ञं न स्यात्। पदत्वाभावाज्जबो न। षष्ठः, षष्ठी, कतिथः, कतिपयथः, चतुर्थः, चतुर्थी, अत्र विसर्गो न।

इति क्षेत्राद्यर्थकाः।

अथ मत्वर्थीयाः

(६६६) तदस्यास्मिन्नस्तीति मतुः॥ ८। १। १।

प्रथमान्तात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे वा मतुः स्यात् प्रथमान्तं तच्चेदस्तीति स्यात्। गावोऽस्य सन्तीति गोमान्, तरवो यस्मिन् सन्तीति तरुमान्।

(६६७) मावर्णान्तोपधाद्वतुः॥ ८। १। २।

मान्तात् मोपधात् अवर्णान्तादवर्णोपधाच्चास्त्यर्थे वतुः स्यात्। किंवान्, लक्ष्मीवान्, ज्ञानवान्, विद्यावान्। यशस्—वत् इत्यत्र नाम सिदयेति पदत्वाद् विसर्गे प्राप्ते।

(६६८) नस्ते मत्वर्थे॥ १। १। २६।

सान्तं तान्तञ्च नाम मत्वर्थे परे पदसंज्ञं न स्यात्। यशस्वान्, भास्वान्।

(६६९) झपात्॥ ८। १। ३।

झपान्तादस्त्यर्थे वतुः स्यात्। तडित्वान्, मरुत्वान्। अत्रापि पदत्वप्रतिषेधाद् जबत्वं न।

(६७०) अस्तपोमायामेधास्रजो विन् वा॥ ८। १। ६।

असन्तेभ्यस्तपसादिभ्यश्च मत्वर्थे विन् वा स्यात्। यशस्वी, तपस्वी, मायावी, मेधावी, स्रग्वी। पक्षे यशस्वानित्यादि।

(६७१) नावादेरिकः ॥ ८।१।१०।

इको वा स्यात्। नाविकः, नौमान्।

(६७२) शिखादिभ्य इन्॥ ८।१।११।

इन् वा स्यात्। शिखी, शिखावान्, माली, मालावान्।

(६७३) व्रीह्यादिभ्यस्तौ ॥८।१।१२।

ताविति इकेनौ वा स्याताम्। व्रीहिकः, व्रीही, व्रीहिमान्, मायिकः मायी, मायावान्।

(६७४) अतोऽनेकस्वरात्॥ ८।१।१३।

अकारान्तादनेकस्वरात् मत्वर्थे इकेनौ वा स्तः। दण्डिकः, दण्डी, दण्डवान्, छत्रिकः, छत्री, छत्रवान्। अत इति किम्—मालावान्। अनेकस्वरादिति किम्—खवान्।

(६७५) न द्रव्यादिभ्यः॥ ८।४।१८।

द्रव्यादिभ्यो मत्वर्थे इकेनौ न स्तः। द्रव्यवान्, धान्यवान्, पुण्यवान्।

(६७६) वातातीसारपिशाचानां कुक् च॥ ८।१।२८।

एभ्यो मत्वर्थे इन् स्यात् एषां कुगागमश्च। वातकी, अतिसारकी, पिशाचकी।

(६७७) सुखादेः॥ ८।१।३०।

सुखादिभ्यो मत्वर्थे इन्नेव स्यात्। सुखी, दुःखी।

(६७८) वाच आलाटौ॥ ८।१।४६।

वाचो मत्वर्थे आलाटौ स्तः क्षेपे। वाचालः, वाचाटः।

(६७९) दन्तादुन्नतात्॥ ८।१।५६।

अस्मात् डुरः स्यात् मत्वर्थे। उन्नता दन्ता अस्य—दन्तुरः। अन्यत्र दन्तवान्।

(६८०) कृपाहृदयाद्वालुः ॥ ८। १। ७४।

कृपालुः, हृदयालुः। पक्षे कृपावान्, हृदयवानित्यादि।

(६८१) स्वामिन्नीशे ॥ ८। १। ८०।

निपात्यते। स्वामी ईशश्चेत्। अन्यत्र स्ववान्।

इति मत्वर्थीयाः।

अथ स्वार्थिकाः

(६८२) विनयादिभ्य इकण् ॥ ७। ४। ८४।

एभ्यः स्वार्थे इकण् स्यात्। विनय एव वैनयिकम्, सामयिकम्।

(६८३) प्रज्ञादिभ्यः ॥ ७। ४। ८८।

एभ्यः स्वार्थे अण् स्यात्। प्रज्ञ एव प्राज्ञः, वणिगेव वाणिजः।

(६८४) भेषजादिभ्यो यण् ॥ ७। ४। ६४।

भेषजमेव भैषज्यम्, आनन्त्यम्।

(६८५) चतुर्वर्णादिभ्यष्टथण् ॥ ७। ४। ६५।

चातुर्वर्ण्यम्, सामीप्यम्, माणिक्यम्।

(६८६) देवात्तल् ॥ ७। ४। ६६।

देव एव देवता। लित्वात् स्त्रीत्वम्।

(६८७) मृदस्तिकः ॥ ७। ४। ६७।

मृदेव मृत्तिका।

(६८८) वर्णाव्ययात् स्वरूपे कारः ॥ ७। ४। ६६।

एभ्यः स्वरूपार्थवृत्तिभ्यः कारः स्यात् । अकारः, ककारः, ओङ्कारः, नमस्कारः, चकारः ।

(६८९) रादेफो वा ॥ ७ । ४ । १०० ।

रेफः, रकारः ।

(६९०) नामरूपभागेभ्यो धेयः ॥ ७ । ४ । १०१ ।

नामधेयम्, रूपधेयम्, भागधेयम् ।

(६९१) मर्तादिभ्यो यः ॥ ७ । ४ । १०२ ।

मर्त एव मर्त्यः, सूर्यः ।

(६९२) नवादीनतनत्नभ्च नू चास्य ॥ ७ । ४ । १०३ ।

नवात् स्वार्थे ईन, तन, त्न, य इत्येते प्रत्ययाः स्युः नवस्य नू इत्यादेशश्च । * नवीनम्, नूतनम्, नूत्नम्, नव्यम् ।

(६९३) प्रकारे जातीयः ॥ ८ । १ । ९२ ।

प्रथमान्तात् षष्ठ्यर्थे जातीयः स्यात् तत्प्रथमान्तं प्रकारश्चेत् स्यात् । पटुः प्रकारोऽस्य—पटुजातीयः, मृदुजातीयः ।

(६९४) जातीयदेशीययोः ॥ ३ । २ । ६२ ।

भाषितपुंस्कादनूङः स्त्रियाः पुंवत् स्यादनयोः परयोः । पट्वी प्रकारोऽस्याः—पटुजातीया ।

(६९५) भूतपूर्वे चरट् ॥ ६ । १ । ६५ ।

भूतपूर्व आढ्यः—आढ्यचरः, आढ्यचरी ।

(६९६) अहीयरुहोऽपादाने ॥ ८ । १ । १०५ ।

अपादाने विहितपञ्चम्यन्तात् तसुः स्यात् तदपादानं हीयरुहोः

---

* उवर्णस्यास्वयंभुवोऽव् ।

सम्बन्धि न चेत् । ग्रामत आगच्छति, चोरतो बिभेति । अहीयरुहोरिति किम्—सार्थाद्धीनः, पर्वतादवरोहति ।

(६९७) किमद्व्यादिसर्वाद्यवैपुल्यबहोस्तस् ॥ ८ । १ । १०६ ।

एभ्यः पञ्चम्यन्तेभ्यस्तस् स्यात् । कस्मादिति किम्—तस् ।

(६९८) इतोऽतः कुतः ॥ ८ । १ । १०७ ।

एते तसन्ता निपात्याः । निपातनात् कुतः । सर्वस्मादिति—सर्वतः, विश्वतः ।

(६९९) तसादिः स्यादिवत् ॥ ८ । १ । १२१ ।

तसादयः थापर्यन्ताः प्रत्ययाः स्यादिवत् स्युः । स्यादित्वाट्टेरत्वम् । तस्मादिति—ततः, यतः, अस्मात्—इतः, एतस्मात्—अतः, बहुभ्यः—बहुतः । बहोर्वैपुल्यप्रतिषेधः किम्—बह्वोः सूपात् ।

(७००) सप्तम्याः ॥ ८ । १ । ११० ।

किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यस्त्रः स्यात् ।

(७०१) कुत्रात्रक्वकुहेह ॥ ८ । १ । १११ ।

एते त्रान्ता निपात्याः । कस्मिन्—कुत्र, क्व, कुह, सर्वस्मिन्—सर्वत्र, तत्र, यत्र, एतस्मिन्—अत्र, अस्मिन्—इह ।

(७०२) किमन्यैकसर्वयत्तदः काले दा ॥ ८ । १ । ११२ ।

एभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः कालेऽर्थे दा स्यात् । त्रापवादः । कस्मिन् काले—कदा, अन्यदा, एकदा, सर्वदा, यदा, तदा ।

(७०३) सदाऽधुनेदानीं तदानीमेतर्हि ॥ ८ । १ । ११३ ।

कालेऽर्थे एते निपात्याः । सर्वस्मिन् काले—सदा, अस्मिन् काले—अधुना, इदानीम्, एतर्हि, तस्मिन् काले—तदानीम् ।

(७०४) प्रकारे था ॥ ८ । १ । ११६ ।

सर्वेण प्रकारेण—सर्वथा, यथा, तथा, अन्यथा ।

(७०५) कथमित्थम् ॥ ८ । १ । १२० ।

एतौ प्रकारे निपात्येते । केन प्रकारेण—कथम्, अनेन प्रकारेण—इत्थम् ।

(७०६) संख्याया धा ॥ ८ । १ । १२२ ।

संख्यायाः प्रकारेऽर्थे धा स्यात् । एकधा, द्विधा, त्रिधा, पञ्चधा । षोढा—षड्ढा इति तु निपातनात् ।

(७०७) डत्यतुसंख्यावत् ॥ १ । १ । ५७ ।

डत्यन्तमत्वन्तञ्च नाम संख्यावत् स्यात् । कतिधा, कियद्धा, यतिधा, यावद्धा ।

(७०८) विचाले च ॥ ८ । १ । १२३ ।

द्रव्यस्य संख्यान्तरापादनं विचालस्तत्र प्रकारे च संख्याया धा स्यात् । एकं राशिं पञ्चधा कुरु ।

(७०९) वैकाद् ध्यमुञ् ॥ ८ । १ । १२४ ।

एकशब्दात् प्रकारे विचाले च ध्यमुञ् वा स्यात् । एकेन प्रकारेण—ऐकध्यमेकधा वा भुङ्क्ते । अनेकमेकं करोति—ऐकध्यमेकधा वा करोति ।

(७१०) द्वित्रेर्धमुञेधौ ॥ ८ । १ । १२५ ।

आभ्यां प्रकारे विचाले च धमुञेधौ वा स्तः । द्वैधम्, त्रैधम्, द्वेधा, त्रेधा । पक्षे—द्विधा, त्रिधा ।

(७११) वारे कृत्वसुच् ॥ ८ । १ । १२७ ।

संख्याया वारे कृत्वस् स्यात् । पञ्चवारं भुङ्क्ते—पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । एवं षट्कृत्वः, सप्तकृत्वः ।

(७१२) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥ ८ । १ । १२८ ।

द्विवारमिति—द्विर्भुङ्क्ते त्रिर्भुङ्क्ते, चतुर्भुङ्क्ते ।

(७१३) एकात् सकृच्चास्य ॥ ८ । १ । १२६ ।

वारे सुच् स्यात् अस्य च सकृदादेशः । संयोगस्येति सलोपे । एकवारमिति—सकृद् भुङ्क्ते ।

(७१४) प्रकृष्टे तमः ॥ ८ । २ । १ ।

नाम्नः प्रकृष्टेऽर्थे तमः स्यात् । अयमेषां प्रकृष्टः शुक्लः—शुक्लतमः, साधकतमः, कारकतमः ।

(७१५) द्वयोर्विभज्ये च तरः ॥ ८ । २ । २ ।

द्वयोः प्रकृष्टे विभज्ये प्रकृष्टे च नाम्नस्तरः स्यात् । अयमनयोः प्रकृष्टः पटुः—पटुतरः, पाचकतरः, सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रकाः आढ्यतराः, अभिरूपतराः ।

(७१६) त्यादिकिमेदव्ययेभ्यस्ताभ्यामामद्रव्ये ॥ ८ । २ । ४ ।

त्याद्यन्त, किम्, एदन्त, अव्यय इत्येतेभ्यः पराभ्यां तमतराभ्यामाम् स्यात् अद्रव्ये । पचतितमाम्, पचतितराम्, किन्तमाम्, किन्तराम्, अग्रेतमाम्, अग्रेतराम्, उच्चैस्तमाम्, उच्चैस्तराम् । एभ्य इति किम्—शीघ्रतरं गच्छति । अद्रव्य इति किम्—किन्तरं दारु ।

(७१७) गुणाङ्गादिष्ठेयसू तदर्थे वा ॥ ८ । २ । ५ ।

गुणाङ्गे वर्तमानात् तमतरार्थे इष्ठेयसू प्रत्ययौ वा स्तः । तमार्थे इष्ठः, टेरिति टेर्लोपे—पटिष्ठः, पटुतमः । तरार्थे ईयसुः—पटीयान्, पटुतरः ।

(७१८) बहोर्लोपो भू च बहोः ॥ ८।४।४०।

बहोर्लोपो भूयः परयोः भूय् इत्यादेशः स्यात्। भूयिष्ठः। भूर्लोप-श्चेति ईयसौ—भूयान्।

(७१९) प्रशस्यस्य श्रः ॥ ८।४।३४।

प्रशस्यशब्दस्य श्रादेशः स्यात् ष्ठेयसु परतः। श्रेष्ठः, श्रेयान्।

(७२०) वृद्धस्य च ज्यः ॥ ८।४।३५।

वृद्धस्य प्रशस्यस्य च ज्यादेशः स्यात् ष्ठेयसु परतः। ज्येष्ठः।

(७२१) ज्यायान् ॥ ८।४।३६।

ईयसौ वृद्धप्रशस्ययोः ज्यादेशे ज्यायान् इति निपात्यते। ज्यायान्, ज्यायसी।

(७२२) युवाल्पयोः कन् वा ॥ ८।४।३३।

अनयोः कनादेशो वा स्यात् ष्ठेयसु परतः। अतिशयेन युवा अल्पो वा—कनिष्ठः, कनीयान्। पक्षे—

(७२३) स्थूलदूरयुवक्षिप्रक्षुद्राणां यलादेर्नामिनो गुणश्च ॥ ८।४।४२।

एषामिमनि ष्ठेयस्सु च परेषु यलादेरवयवस्य लोपो नामिनश्च गुणः स्यात्। यविष्ठः, यवीयान्, अल्पिष्ठः, अल्पीयान्, गरिष्ठः, गरीयान्।

(७२४) त्यादेश्च प्रशंसायां रूपः ॥ ८।२।६।

त्याद्यन्तात् नाम्नश्च प्रशंसायां रूपः स्यात्। प्रशस्तं पचति—पचति-रूपम्, पश्यतिरूपम्, प्रशस्तो वैयाकरणः—वैयाकरणरूपः, नैयायिकरूपः।

(७२५) अतमादेरीषदसमाप्ते कल्पदेश्यदेशीयाः ॥ ८।२।७

तमाद्यन्तवर्जितात् त्याद्यन्तात् नाम्नश्च ईषदसमाप्तेऽर्थे कल्प, देश्य, देशीय इत्येते प्रत्ययाः स्युः। ईषदसमाप्तं पचति—पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम्, पचतिदेशीयम्। एवं पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः।

(७२६) नाम्नः प्राग् बहुर्वा ॥ ८।२।८।

ईषदसमाप्तेऽर्थे नाम्नः प्राग् बहुप्रत्ययो वा स्यात्। ईषदसमाप्तः पटुः—बहुपटुः, बहुभुक्तम्।

(७२७) पाशः क्षेपे ॥ ८।२।११।

कुत्सितो वैयाकरणः—वैयाकरणपाशः। एवं याज्ञिकपाशः।

(७२८) बह्वल्पार्थात् कारकादिष्टानिष्टे शस् ॥ ८।१।१२।

कारकवाचिभ्यां बह्वल्पार्थाभ्यां यथासंख्यमिष्टेऽनिष्टे च शस्प्रत्ययः स्यात्। बहुभ्यो ददाति—बहुशो ददाति। बहुषु वसति—बहुशो वसति। एवमल्पशो ददाति, अल्पशो वसति। कारकादिति किम्—बहूनां स्वामी।

(७२९) प्रकृते मयट् ॥ ८।२।१५।

प्राचुर्येण प्राधान्येन वा कृतम्—प्रकृतम्। प्रकृतेऽर्थे वर्तमानात् नाम्नो मयट् स्यात्। प्रचुरमन्नम्—अन्नमयम्, प्रधानं घृतम्—घृतमयम्, दधिमयम्।

(७३०) अस्मिन् ॥ ८।२।१६।

प्रकृतेऽर्थे वर्तमानात् नाम्नः सप्तम्यर्थे मयट् स्यात्। अन्नं प्रकृतमस्मिन्—अन्नमयं भोजनम्, अपूपमयं पर्व।

(७३१) अभूततद्भावे कृभ्वस्तिभ्यां कर्मकर्तृभ्यां च्विः ॥ ८।२।१८।

कर्मार्थात् करोतिना योगे कर्त्रर्थाच्च भ्वस्तिभ्यां योगे अभूततद्भावेऽर्थे च्विप्रत्ययः स्यात्।

(७३२) ईश्च्वाववर्णस्याऽनव्ययस्य ॥ ४ । १ । ६० ।

अव्ययवर्जितस्य अवर्णान्तस्य ईः स्यात् च्वौ परे ।

(७३३) वेर्लोपः ॥ ४ । ४ । ४८ ।

विप्रत्ययस्य लोपः स्यात् सर्वत्र । अशुक्लं शुक्लं करोति—शुक्लीकरोति पटम्, शुक्लीभवति, शुक्लीस्यात् वस्त्रम् ।

(७३४) च्वियग्यङ्क्यादादियक्येषु ॥ ४ । १ । ५१ ।

च्व्यादिषु परेषु पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । शुचीकरोति, शुचीभवति, पटूकरोति, पटूभवति ।

(७३५) कार्त्स्न्ये साद्वा ॥ ८ । २ । २२ ।

कार्त्स्न्ये गम्ये च्व्यर्थे सात्प्रत्ययो वा स्यात् ।

(७३६) सात्सुगोः ॥ २ । २ ६७ ।

सात्प्रत्ययस्य सुगागमस्य च सस्य प्राप्तं षत्वं न स्यात् । सर्वं काष्ठमनग्निमग्निं करोति—अग्निसात् करोति, अग्निसाद् भवति स्याद्वा ।

(७३७) प्राग्यावात् कच् ॥ ८ । २ । ४२ ।

यावशब्दात् प्राग् येऽर्थास्तेषु कजधिकारो वेदितव्यः ।

(७३८) कुत्सिताल्पाज्ञातेषु ॥ ८ । २ । ४७ ।

कुत्सितोऽल्पोऽज्ञातो वाऽश्वः—अश्वकः । एवं घृतकम्, तैलकम् ।

(७३९) ह्रस्वे ॥ ८ । २ । ६० ।

ह्रस्वः पटः—पटकः, वृक्षकः ।

(७४०) त्यादिसर्वादेरक् प्राक् टेः ॥ ८ । २ । ४३ ।

कचोऽपवादः । कुत्सितमल्पमज्ञातं पचति—पचतकि, सर्वकः, विश्वकः ।

(७४१) युष्मदस्मदोरनोत्सभादेः स्यादेः ॥ ८ । २ । ४४ ।

अनयोः परस्य ओकारसकारभकारादिवर्जितस्य स्यादेष्टेः प्रागक् स्यात् । त्वयका, मयका, युष्माककम्, अस्माककम् । अनोत्सभादेरिति किम्—युवकयोः, युष्मकासु, युवकाभ्याम् ।

(७४२) वैकाद् द्वयोर्निर्धार्ये डतरः ॥ ८ । २ । ६६ ।

एकतरो भवतोः पटुः । पक्षे एककः । द्वयोरिति किम्—एकोऽस्मिन् ग्रामे राजा । निर्धार्ये इति किम्—एकोऽनयोर्ग्रामयोः स्वामी ।

(७४३) यत्तत्किमन्येभ्यः ॥ ८ । २ । ६७ ।

यतरो भवतोः पटुः ततर आगच्छतु, कतरोऽन्यतरो वा भवतोः पटुः ।

(७४४) बहूनां प्रश्ने डतमश्च वा ॥ ८ । २ । ६८ ।

यदादिभ्यो बहूनां मध्ये निर्धार्येऽर्थे प्रश्नविषये डतमडतरौ वा स्तः । यतमो यतरो वा भवतां पटुः ततमः ततरो वा आगच्छतु, कतमः, कतरः, अन्यतमः, अन्यतरः । पक्षे यकः, सकः, ककः, अन्यकः ।

(७४५) यावादिभ्यः कः ॥ ८ । २ । ७२ ।

एभ्यः स्वार्थे कः स्यात् । याव एव यावकः, मणिकः, भिक्षुकः । इति स्वार्थिकाः । इति तद्धितेषु स्वार्थिकाः ।

इति तद्धिताः

अथ द्विरुक्तप्रक्रिया

(७४६) भृशाभीक्ष्ण्यसातत्यवीप्सासु द्विः प्राक् तमादेः

॥ ८ । ४ । ८५ ।

क्रियायाः साकल्यं भृशार्थः। पौनःपुन्यमाभीक्ष्ण्यम्। क्रियान्तरैरव्यवधानं सातत्यम्। व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। भृशादिष्वर्थेषु यत्पदं वाक्यं वा तत् तमादिप्रत्ययेभ्यः प्रागेव द्विः स्यात्। लुनीहि लुनीहि इत्येवायं लुनाति, भोजं भोजं व्रजति, पचति पचति, वृक्षं वृक्षं सिञ्चति। प्राक् तमादेरिति किम्—पचति पचतितमाम्, पचति पचतितराम्।

(७४७) सम्भ्रमे यावद्बोधम् ॥ ८ । ४ । ९३ ।

सम्भ्रमे द्योत्ये यत्पदं वाक्यं वा यावद्बोधं द्विः स्यात्। सर्पः ३, बुध्यस्व ३।

(७४८) अधोऽध्युपरि सामीप्ये ॥ ८ । ४ । ९४ ।

अधस्, अधि, उपरि इत्येतानि द्विः स्युः सामीप्ये गम्ये। अधोऽधो ग्रामम्—ग्रामस्य अधस्तात् समीपदेश इत्यर्थः। अध्यधि ग्रामम्, उपर्युपरि ग्रामम्। सामीप्ये इति किम्—अधः पन्नगाः, उपरि चन्द्रमाः।

(७४९) आधिक्यानुपूर्व्ये ॥ ८ । ४ । ९६ ।

आधिक्ये आनुपूर्व्ये च शब्दरूपं द्विः स्यात् । नमो नमः—अधिकं नम इत्यर्थः । ज्येष्ठज्येष्ठमनुप्रवेशय—आनुपूर्व्येणेत्यर्थः ।

(७५०) प्रोपोत्सम: पादपूरणे ॥ ८ । ४ । ९५ ।

एते उपसर्गा द्विः स्युः तेन चेत् पादः पूर्येत ।

प्रप्रशान्तकषायाग्ने-रुपोपप्लववर्जितम् ।

उदुज्ज्वलं तपो यस्य, संसंश्रयत तं जिनम् ॥१॥

पादपूरणे इति किम्—प्रणम्य सच्छासनवर्धमानम् ।

(७५१) द्वन्द्वं वा ॥ ८ । ४ । ९०

द्विरुक्तस्य द्विशब्दस्य द्वन्द्वमिति वीप्सायां वा निपात्यते । द्वन्द्वं द्वौ द्वौ वा तिष्ठतः, द्वन्द्वं युद्धं द्वयोर्द्वयोर्युद्धं वा प्रवर्तते, द्वन्द्वं द्वाभ्यां द्वाभ्यां वा कृतम् । द्वन्द्वः समासः, द्वन्द्वः कलहः, द्वन्द्वं युद्धमिति तु शब्दान्तरम् ।

इति द्विरुक्तप्रक्रिया

इति श्रीमत्तेरापन्थगणगगनाङ्गण-गगनमणि-सकलस्वपरसमय-पारावारपारीण-सार्वसार्वज्ञशासनसार्वभौम-कोविदकुलालङ्कार-तीर्थ-चूडामणि-विश्वविजय-श्रीमत्कालुरामाचार्यचरणाम्भोजचञ्चरीकाय-माणान्तेवासिमुनिचौथमल्लविरचितायां कालुकौमुद्यां पूर्वार्धं समाप्तम् ।

परिशिष्टम् १

कालुकौमुदीपूर्वार्धस्थसूत्राणामकारादिवर्णानुक्रमसूची

अ

सूत्राङ्कः	सूत्रम्
४८३	इदुदन्तमसखि ॥ ३ । १ । १७० ।
३१६	इन्द्रवरुणभव० ॥ २ । ३ । ५५ ।
४८	इन्द्रे ॥ १ । २ । ८ ।
२२३	इन्हन्पूषन्नर्यम्णां० ॥ १ । ४ । ६८ ।
२६३	इयं स्त्रियाम् ॥ २ । १ । ७४ ।
२६	इवर्णादीनां स्वरे० ॥ १ । २ । १ ।
४५१	इवर्णावर्णस्य ॥ ८ । ४ । ७१ ।
२५३	इसुसुसजुषाम् ॥ २ । १ । १०७ ।

ई

५५	ईदूदेद् द्विवचनं० ॥ १ । २ । ३६ ।
४६८	ईपः ॥ ३ । २ । ६५ ।
३०७	ईप्यतः ॥ ८ । ४ । ७२ ।
४७६	ईबादीदूतां के ॥ २ । ३ । १०६ ।
१६२	ईरौः ॥ २ । १ । ६ ।
५६६	ईयो मत्वर्थजिह्वा० ॥ ७ । १ । ४६ ।
७३२	ईश्च्वावर्णस्यान० ॥ ४ । १ । ६० ।

उ

३२७	उतोगुणादखरु० ॥ २ । ३ । ७८ ।
६६	उदःस्थास्तम्भोः सः ॥ १ । ३ । ६४ ।

ऐ

ओ

सूत्राङ्क	सूत्रम्
३३५	कर्मणि द्वितीया ॥ २ । ४ । ४७ ।
५४८	क्वचिद्हस्त्यचित्ता० ॥ ६ । ३ । १५ ।
४३१	कवश्चोष्णे ॥ ३ । २ । १०८ ।
४१८	काकादिभिः क्षेपे ॥ ३ । १ । ७८ ।
५०६	काममनसोस्तुमः ॥ ३ । २ । १४६ ।
७३५	कार्त्स्न्ये साद्वा ॥ ८ । २ । २२ ।
२४	कार्यायेत् ॥ १ । १ । ३८ ।
३४८	कालाध्वनोरत्यन्त० ॥ २ । ४ । ५६ ।
४५३	किं क्षेपे ॥ ३ । १ । ११४ ।
२३०	किमः कः ॥ २ । १ । ७६ ।
६९७	किमद्व्यादिसर्वाद्य० ॥ ८ । १ । १०६ ।
७०२	किमन्यैकसर्वय० ॥ ८ । १ । ११२ ।
५११	किमिदमोः कीशीशौ ॥ ३ । २ । १३५ ।
४२७	कुः पापाल्पयोर्नित्यम् ॥ ३ । १ । ८६ ।
१५	कुचुटुतुपु वर्गाः ॥ १ । १ । १६ ।
७०१	कुत्रात्रक्वकुहेह ॥ ८ । १ । १११ ।
४४५	कुत्सितानि कुत्सनै० ॥ ३ । १ । १०२ ।
७३८	कुत्सितात्पाज्ञातेषु ॥ ८ । २ । ४७ ।
५३७	कुलादीनः ॥ ६ । २ । ११९ ।
५६३	कुशले ॥ ७ । १ । १८ ।
५६२	कृतलब्धक्रीतसं० ॥ ७ । १ । १७ ।

सूत्राङ्कः	सूत्रम्
४१५	कृति ॥ ३ । १ । ६७ ।
६०४	कृते ॥ ७ । १ । १०६ ।
३७६	कृत्यानां कर्तरिवा ॥ २ । ४ । ६३ ।
५०४	कृत्येऽवश्यमो लोपः ॥ ३ । २ । १४७ ।
६८०	कृपाहृदयाद्वालुः ॥ ८ । १ । ७४ ।
१५३	केवलसखिपतेरौः ॥ १ । ४ । ४७ ।
४२८	कोः कत्तत्पुरुषे ॥ ३ । २ । १०२ ।
३७७	क्तस्य वर्तमानाधा० ॥ २ । ४ । १०० ।
२६३	क्त्वाकृन्मान्तम् ॥ १ । १ । ४६ ।
३२६	क्रियानिमित्तं कार० ॥ २ । ४ । १ ।
३३६	क्रियाविशेषणात् ॥ २ । ४ । ४८ ।
३५६	क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्था० ॥ २ । ४ । ३७ ।
१६१	क्रोष्टुस्तृजवत् पुंस्यधौ ॥ १ । ४ । ८७ ।
२५७	क्स उष्मतौ च ॥ २ । १ । ३७ ।
२०७	क्स्नुस्र्ं स्ध्वंस्न्र्ं स्नह्० ॥ २ । १ । ६६ ।
५७३	कामेह्त्रतसस्त्यप् ॥ ६ । ४ । १५ ।
१५६	क्विप्समासस्यासुधि० ॥ २ । १ । २१ ।
११६	क्लिादेकपदेऽप० ॥ २ । २ । १४ ।
२२४	क केस्वरवतः ॥ २ । २ । ८४ ।
५३४	क्षत्रादियः ॥ ६ । २ । ११६ ।
५२८	क्षुद्राभ्यो वा ॥ ६ । २ । १०४ ।

सूत्राङ्कः सूत्रम्

झ

६६६ झपात् ॥ ८ । १ । ३ ।

३१ झबे जबा झसानाम् ॥ १ । ३ । ४३ ।

५६ झसा जबाः ॥ २ । १ । १०८ ।

३६ झसानां झसे सव० ॥ १ । ३ । ६३ ।

ञ

६० ञमे जबा ञमा वा ॥ १ । ३ । १ ।

ट

२७८ टाङ्योसि यः ॥ २ । १ । ५५ ।

१६३ टादौ स्वरे वा ॥ १ । ४ । ८८ ।

१४२ टा नाः पुंसि ॥ १ । ४ । ४२ ।

६३४ टेः ॥ ८ । ४ । ४४ ।

१०६ टेनः ॥ १ । ४ । १५ ।

ड

७०७ डत्यतु संख्यावत् ॥ १ । १ । ५७ ।

१४६ डिति टेः ॥ ८ । ४ । ८४ ।

ण

१३८ णषमसिद्धं परे० ॥ २ । १ । ६१ ।

५७५ णोऽरण्यात् ॥ ६ । ४ । २१ ।

सूत्राङ्कः	सूत्रम्
५४४	तस्य समूहे ॥ ६ । ३ । १० ।
५१६	तस्यापत्ये ॥ ६ । २ । ३१ ।
६२७	तस्यार्हे क्रियायां वत् ॥ ७ । ३ । ५२ ।
६०५	तस्येदम् ॥ ७ । १ । ११२ ।
३६०	तादर्थ्ये ॥ २ । ४ । ६४ ।
३०३	ताभ्यां नेप् ॥ २ । ३ । ६ ।
२४६	तिर्यचस्तिरश्चः ॥ २ । १ । ३४ ।
५६०	तिष्यपुष्ययोर्नक्ष० ॥ ८ । ४ । ७६ ।
२७६	तुभ्यंमह्यं ङ्या ॥ २ । १ । ४७ ।
४१०	तुम्त्त्वाक्तवतुभिः ॥ ३ । १ । ५५ ।
१७	तुल्यस्थानाभ्यन्तर० ॥ १ । १ । १८ ।
४६०	तुल्यार्थं चानेकश्च ॥ ३ । १ । १२८ ।
३८७	तुल्यार्थैस्तृतीयाद्याः ॥ २ । ४ । १२२ ।
३७४	तृन्नुदन्ताव्ययक० ॥ २ । ४ । ६५ ।
१६२	तृस्वसृनप्तृनेष्टृ० ॥ १ । ४ । ५४ ।
५६५	तेन छन्ने रथे ॥ ६ । ३ । ६६ ।
६०७	तेन दीव्यतिखन० ॥ ७ । २ । २ ।
६०३	तेन प्रोक्ते ॥ ७ । १ । ६१ ।
५४३	तेन रक्ते रागात् ॥ ६ । ३ । १ ।
६४६	तेन वित्ते चञ्चुच० ॥ ७ । ४ । १६ ।
४६५	तेन सहः ॥ ३ । १ । १३० ।

सूत्राङ्कः सूत्रम्

सूत्राङ्कः	सूत्रम्
५५७	पुरुषात् कृतहित० ॥ ६ । ३ । ६४ ।
४३०	पुरुषे वा ॥ ३ । २ । १०७ ।
४१६	पूरणशतृशाना० ॥ ३ । १ । ७४ ।
१२५	पूर्वादिभ्यो नवभ्य० ॥ १ । ४ । २२ ।
४३८	पूर्वापराधरोत्तर० ॥ ३ । १ । ३५ ।
६३३	पृथुमृदुभृशकृ० ॥ ८ । ४ । ४६ ।
६३२	पृथ्वादेरिमन् वा ॥ ७ । ३ । ५६ ।
५१३	पृषोदरादयः ॥ ३ । २ । १५८ ।
६६३	प्रकारे जातीयः ॥ ८ । १ । ६२ ।
७०४	प्रकारे था ॥ ८ । १ । ११६ ।
७२६	प्रकृते मयट् ॥ ८ । २ । १५ ।
३५४	प्रकृत्यादय आख्या० ॥ २ । ४ । २६ ।
७१४	प्रकृष्टे तमः ॥ ८ । २ । १ ।
६८३	प्रज्ञादिभ्यः ॥ ७ । ४ । ८८ ।
६१	प्रत्यये ॥ १ । ३ । २ ।
३६६	प्रथमोक्तं प्राक् ॥ ३ । १ । १६५ ।
६०१	प्रभवति ॥ ७ । १ । ६६ ।
३६६	प्रभृत्यन्यार्थारादि० ॥ २ । ४ । ८१ ।
६४६	प्रमाणान्मात्रट् ॥ ७ । ४ । ३३ ।
७१६	प्रशस्यस्य श्रः ॥ ८ । ४ । ३४ ।
४७०	प्रहरणेभ्यः ॥ ३ । १ । १६६ ।

सूत्राङ्क	सूत्रम्
७४१	युष्मदस्मदोरनो० ॥ ८ । २ । ४४ ।
२७२	युष्मदस्मदोर्लोपः० ॥ २ । १ । ४१ ।
३२८	यूनस्तिः ॥ २ । ३ । ८६ ।
२७४	यूयं वयं जसा ॥ २ । १ । ४६ ।
३५२	येनाङ्गविकारः ॥ २ । ४ । ६० ।
५४२	येऽयकि ॥ १ । २ । ५ ।
८७	यो विसर्गस्य ॥ १ । ३ । ५४ ।

र

६१	रः ॥ १ । ३ । ५६ ।
५४७	राजन्यमनुष्ययू० ॥ ८ । ४ । ५१ ।
५३२	राज्ञो जातौ ॥ ६ । १ । ११५ ।
४५२	राज्ञोऽस्त्रियाम् ॥ ८ । ३ । ७ ।
६८६	रादेफो वा ॥ ७ । ४ । १०० ।
१६६	रायो हसे ॥ १ । ४ । ७ ।
५७०	राष्ट्रादियः ॥ ६ । ४ । २ ।
३५७	रुच्यर्थानां प्रीयमा० ॥ २ । ४ । ३३ ।
६०	रोऽरस्यादिभे ॥ २ । १ । १०६ ।
६४	रो रि लोपो दीर्घश्चा० ॥ १ । ३ । ३६ ।

ल

६४२	लघुपूर्वाद् य्वृवर्णात् ॥ ७ । ३ । ७२ ।

इति परिशिष्टम्

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७	२२	अन्तःस्थाः	अन्तस्थाः
९ टिप्पण १		अन्वयसमाहारेतरेतर-योगसमुच्चयेषु	समुच्चयान्वाचये-तरेतरयोगसमाहारेषु
१४	१६	सहः	सह
५०	३	विद्वन्	हे विद्वन्
५३	५	इति स्यादिप्रकरणे	इति
५३	६	इति स्यादिप्रकरणम्	०
५७	२०	इति युष्मदस्मत्-प्रकरणम्	इति स्यादिप्रकरणे युष्मदस्मच्छब्दौ
५७	२१	....	इति स्यादिप्रकरणम्
६१	८	उदाहृता	उदाहृताः
६७	३	कूपं	रूपं
६९	९	शूराः	सुराः
७३	२	पञ्चमी स्यात्	पञ्चमी वा स्यात्
७८	१४	देहि वा	देहि स्वामी वा
८९	१९	बहुव्रीहि	बहुव्रीहिः
१०३	२०	गाः पुरीषे	गोः पुरीषे
१०६	८	भवत् शब्दात्	भवतुशब्दात्
१०८	२२	माध्यमीयः	मध्यमीयः